कणिका में प्राउट

(एकादश खण्ड)

कणिका में प्राउट

(एकादश खण्ड)

श्रीप्रभातरञ्जन सरकार

सूचीपत्र

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ द्‌वारा सर्वस्वत्व संरक्षित

आचार्य समन्वयानन्द अवधूत द्‌वारा मूल बंगला से अनुदित

प्रकाशक :

आचार्य कृष्णात्मानन्द अवधूत

प्रकाशन सचिव

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (रजिष्टर्ड)

भि. आई. पी नगर, तिलजला

कलिकाता-३६,

प्रथम संस्करण- १ जनवरी, १६६२ ई०

मुद्रक :

आचार्य पीयूषानन्द अवधूत

सूचीपत्र

आनन्द प्रिन्टर्स, तिलजला, कलिकाता-३६

रु.-12:00

प्राप्तिस्थान :

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ

भि. आई. पी नगर, तिलजला

कलिकाता-३६,

सूचीपत्र

रोमन संस्कृत वर्णमाला

विभिन्न भाषाओं का ठीक - ठीक उच्चारण करने के लिए तथा द्रुतलेखन के प्रयोजन को समझकर निम्नलिखित पद्धति से रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है

অ	আ	ই	ঈ	উ	ঊ	ঋ	ৠ	ঌ	ৡ	এ	ঐ	ও	ঔ	অং	অঃ
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
a	á	i	ii	u	ú	r	rr	lr	lrr	e	ae	o	ao	aḿ	ah

ক	খ	গ	ঘ	ঙ	চ	ছ	জ	ঝ	ঞ
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ka	kha	ga	gha	uṋa	ca	cha	ja	jha	iṋa

सूचीपत्र

ট	ঠ	ড	ঢ	ণ	ত	থ	দ	ধ	ন
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
t́a	t́ha	d́a	d́ha	ńa	ta	tha	da	dha	na

প	ফ	ৱ	ভ	ম
प	फ	ब	भ	म
Pa	pha	ba	bha	ma

য	ৰ	ল	ব
य	र	ल	व
ya	ra	la	va

শ	ষ	স	হ	ক্ষ
श	ष	स	ह	क्ष
sha	śa	sa	ha	kśa

অঁ জ্ঞ ঋষি ছায়া জ্ঞান সংস্কৃত ততোঽহং

अँ ज्ञ ऋषि छाया ज्ञान संस्कृत ततोऽहं

aṇ̭ jiṇ̭a rśi cháyá jiṇ̭ána saḿskrta tato’haḿ

a á b c d d́ e g h i j k l m ḿ n
ń ṇ̭ o p r s ś t t́ u ú v y

समग्र विश्व में बहुत प्रचारित रोमन लिपि के २९ अक्षर मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक - ठीक उच्चारण किया जाना सम्भव है । इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है । अरबी , फारसी और अन्यान्य f, q , gh , z , प्रभुति अक्षरों का प्रयोजन रहता है , संस्कृत में नहीं । शब्द के मध्य या शेष में '

ড ' , ' ঢ ' यथाक्रम ' ड़ ' और ' ढ़ ' ' रूप में उच्चारित होते हैं । ' य ' (जहाँ ' य ' का उच्चारण ' इ ' , ' अ ' होता है) के समान वे भी कोई स्वतंत्र वर्ण नहीं हैं । प्रयोजन के अनुसार और असंस्कृत शब्द लिखने के समय ŕa और ŕha व्यवहार किया जा सकता है ।

गैर- संस्कृत शब्द लिखने के लिए दिए गए दश अतिरिक्त अक्षर

ক়	খ়	জ়	ড়	ঢ়	ফ়	য়	ল়	ৎ	অঁ
क़	ख़	ज़	ड़	ढ़	फ़	य़	ल़	त्	अँ
qua	qhua	za	ŕ	ŕha	fa	ya	lra	t	aṋ

सूचीपत्र

आनन्दमार्ग - एक विप्लव

धर्म क्या है ?

अहिंसा और सत्य

वृहत् का आकर्षण और साधना

अभिप्रकाश और प्रतीकीकरण

संगच्छध्वं

अर्थ और परमार्थ

समाज व्यवस्था और महामन्यता-हीनमन्यता रोग

चतुर्वर्ग और भक्ति

आध्यात्मिक, मानसिक तथा जागतिक भूमि

आनन्दमार्ग-एक विप्लव है

क्या आध्यात्मिक, क्या अर्थनैतिक, क्या सामाजिक, क्या मानसिक, जीवन के सर्वविधक्षेत्र में, आनन्दमार्ग एक विप्लव-विशेष है। आनन्दमार्ग की अर्थनैतिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन, मानसिक चिन्तनधारा तथा आध्यात्मिक अनुशीलन प्रभृति, केवल नया ही नहीं, वरन् बहुलांश में उन प्रचलित व्यवस्थाओं से सम्पूर्ण ही स्वतंत्र है ।

आनन्दमार्ग, काल का गतिप्रवाह प्रसूत एक परिवर्तन मात्र ही नहीं है। यह है एक विप्लव, यथार्थ विचार से एक आमूल परिवर्तन है। जगत के इतिहास में

कभी भी सुसन्निवद्‌ध समाज व्यवस्था में अर्थनैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में, ऐसा दृढ़ संयोग और परिलक्षित हुआ नहीं । अपने तथा परिवार के जीविकाज्जैन में तत्पर एक गृही के समान आध्यात्मिक साधक भी, यहाँ समाज का एक आदर्श सदस्य है।

जीवन के इन गुरुत्वपूर्ण अध्यायों का अलग अलग विश्लेषण करने पर ही हमलोग देखते हैं, प्रचलित चिन्तनधारा से आनन्दमार्ग की चिन्तनधारा में कितना अन्तर है, कितना उन्नत है। पृथ्वी की आदिम अवस्था से ही शासन-क्षमता, किसी न किसी एक श्रेणी को हस्तगत थी। शुरु से जन्तु-जानवर के युग में पशु शक्ति, श्रेणीविशेष की योग्यता का मापदण्ड था। उदाहरण स्वरूप, हमलोग पृथ्वी के प्राकृतिक इतिहास में ऐसे एक युग देखते हैं, जब विशालकाय सरीसृप तथा

डायनोसेरस प्रभृति जन्तु, केवल अपने दैहिक स्थूलता और क्षमता के बल पर ही, पृथ्वी के ऊपर राजत्व चलाते थे। यह, दैहिक शक्ति के प्रभाव के जन्तुओं के युग में ही नहीं था, प्राथमिक युग के मनुष्यों के क्षेत्र में भी, उसका यथेष्ट प्रभाव भा । इतना ही नहीं, मानव सभ्यता के एक उन्नत अवस्था में, नाइट, राजा, महाराजा आदि के युग में भी, वे दैहिक शक्ति के ऊपर बहुलांश में निर्भर करते थे, और दैहिक बल पर अपने शासन को अव्याहत रखा था। काल की गति के अनुसार, और मन के विकाश के साथ साथ शासन के मानदण्ड के रूप विचार की सुक्ष्मता तथा चिन्तन की दूरदर्शिता ने, क्रमशः दैहिक शक्ति का स्थान ले लिया था । अर्थनैतिक क्रमविकाश के साथ साथ अर्थ का गुरुत्व बढ़ गया, और विद्‌वान का ज्ञान, तथा साहसी का साहस, अर्थ के दाम के रूप में परिणत हुआ, अर्थात्

शासन क्षमता चली गयी वित्तशालियों या पूंजीपतियों के हाथ में। पूंजीपतियों के हाथ भी क्षमता बहुत दिन रह नहीं पायी; क्योंकि उनकी आय श्रमजीवियों के श्रमके उपर निर्भर करती थी। श्रमजीयियों के बीच जिनमें साहस, शक्ति, मानसिक या अर्थबल कुछ भी नहीं था, वे इतने दिन उनके ग्रासाच्छादन के लिये उपयुक्त किसी न किसी श्रेणी के दया-दाक्षिण्य के ऊपर निर्भर करते। जो दैहिक बल के द्वारा अपने शासन को अक्षुन्न रखते थे, वे श्रमजीवी के श्रम के ऊपर निर्भर नहीं करते, और इसलिये श्रमजीवी भी तत्काल उनके महत्व की उपलब्धि कर नहीं पाये । किन्तु पूंजीपति लोग श्रमिकों के सहाय्य व्यतिरेक में अपनी सम्पत्ति बढ़ा नहीं सके । इसलिये पूंजीपति की शासन व्यवस्था में, शासक के निकट, श्रम का मूल्य बहुत महत्वपूर्ण हो उठा। इस तरह श्रमिक लोग भी उनके महत्व को समझ पाये ।

फलतः शासन क्षमता अधिकृत करने के लिये, उनकी चेष्टाने वर्तमान युगके साम्यवाद आन्दोलन का रूप परिग्रह किया ।

थोड़ी गहराई से देखने से समझा जा सकता है, कि यह आन्दोलन व्यष्टिगत दैहिक शक्ति, मानसिक प्रमति, अर्थात् युक्ति-तर्क या वाग्विन्यास अथवा पूजी, इनमें से किसी के द्वारा सम्पुष्ट नहीं है, सिर्फ श्रमजीवियों की एकता ही इस आन्दोलन की भित्ति है। उन लोगों की यह कर्मशक्ति, पूंजीपतियों की पूंजी तथा अपरापर श्रेणी के आहृत सम्पत्ति को, छीन लेने के लिये हिंसात्मक रूप भी परिग्रह कर सकतो हैं, किन्तु उनलोगों की त्रुटि जो भी हो, समय के गतिप्रवाह तथा घटना वैचित्य द्वारा शासन क्षमता उनके हाथ आती है।

आनन्दमार्ग भी यदि एककालिक परिवर्तन मात्र होता, तब इनके इच्छानुरूप शासन व्यवस्था एक श्रेणी विशेष के हाथ न्यस्त होता । श्रमिकों के या साम्यवादियों के बीच उनके विच्छेद पर विचार करने से, परिवर्तन के स्वाभाविक नियमानुसार शासन क्षमता साहसियों के या बुद्धिजीवियों के हाथ में जाने की बात है, और आनन्दमार्ग यह सुयोगप्राप्त करने की चेष्टा करता, किन्तु आनन्दमार्ग वह नहीं चाहता है। पुरातन अर्थनैतिक जीवन को, किसी संरचना को, आनन्दमार्ग समर्थनः नहीं करता है। यहाँ किसी श्रेणीविशेष के हाथ शासन क्षमता रहेगी ही नहीं । वस्तुतः हमलोगों के मार्ग में कोई पृथक श्रेणी नहीं है। वृत्ति या योग्यता के अनुसार मानवजाति को श्रेणीबद्ध करने की, सुप्राचीन प्रथा की ओर आनन्दमार्ग एकदम ध्यान नहीं देता। जो चार श्रेणीयों के लोग पर्यायक्रम से पृथ्वी के वक्ष पर

अपनी शासन क्षमता, इतने दिनों तक चलाते आये हैं, वे मानव इतिहास के शुरू से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र के नाम से परिचित होते आये हैं। विशेष कर्म के अनुसार, व्यष्टि विशेष की दक्षता के ऊपर भित्तिकर, वृत्तिगत श्रेणीभेद प्रथा की सृष्टि हुई है। इस तरह संघटित श्रेणीसमूह के बीच शासन क्षमता अधिकृत करने के लिये संघात शुरू हुआ और उससे एक श्रोणी के लोगों का शासन समाज में अन्यान्य श्रेणी के ऊपर प्रर्वात्तत होने लगा। इस तरह देखा जाय तो वृत्तिगत श्रेणीभेद व्यवस्था एक स्वाभाविक तथा विचार सर्मार्थत विषय है। यदि यह हो, तब प्रश्न उठता है कि आनन्दमार्ग ही किस तरह श्रेणीहीन समाज प्रतिष्ठा करने में सक्षम होगा ? इस दिशा में, आनन्दमर्ग को जो ठीक तरह से न समझते हैं, और न जानतें हैं, वे स्वाभाविक रूप में

यह बात बोलेंगे कि यौक्तिकताश्रय आनन्द-मार्ग, अयौक्तिक विषय की प्रतिष्ठा का गर्व, कर नहीं सकता।

इसलिये अन्यान्य वहुत आदर्शवादी या नैतिकवादी समाज के समान, आनन्द-- मार्ग के अनुसार, श्रेणीहीन समाज प्रतिष्ठा करना सम्भव नहीं है; क्योंकि यह पूर्णतया अवास्तविक चीज है। आनन्दमार्ग का श्रोणीहोन समाज प्रतिष्ठा की प्रचेष्टा केबल मार्गीय प्रचारक और दर्शन के समर्थकों के बीच सीमित नहीं है। यहाँ किसी सदस्य का व्यष्टिगत जीवन, श्रेणीहीन समाज प्रविष्ठा का एक अङ्ग विशेष है। व्यष्टिस्वार्थ प्रणोदित श्रोणीभेद व्यवस्था, जो पूर्ण मानव समाज के लिये एक अभिशाप विशेष थी, उनके उच्छेद कल्प में, आनन्दमार्ग ने जो दृष्टिभङ्गी ली है, उससे ही इसकी विप्लव धर्मिता का परिचय मिलता है। स्वाभाविक नियमानुसार, योग्यता

की पूर्ण उपयोगिता के लिये, साधारण रुचि के लोगों का जो संगठन होता है, उस पर भित्ति कर ही, ये कृत्रिम श्रेणीसमूह टिके रहते हैं ! दृष्टान्ततः बुद्धिजीवियों के समवाय से, विप्रों की और साहसी तथा शक्तिशालियों के समवाय से, क्षत्रियों का उद्भव हुआ है। वैश्य और शूद्र का उद्भव ठीक इसी तरह हुआ है। आनन्दमार्ग केवल वागवितण्डा और समालोचना द्वारा ही, इस श्रणीभेद व्यवस्था का उच्छेद करना नहीं चाहता है। आध्यात्मिक अनुशीलन के द्वारा समाज के प्रत्येक सदस्य के बीच, चतुर्वर्ण के गुणसमूह का समावेश घटित कर, यह महान दायित्व पालन करना चाहता है। जैसे शुद्र वैश्य अथवा जिस किसी श्रेणी का मनुष्य क्यों न हो, आनन्दमार्ग में योगदान करने के पश्चात् प्रत्येक को ही विप्रों के समान उन्नत मस्तिष्क का अधिकारी होने का लक्ष्य ग्रहण करना पड़ता है। सबोंको मानसिक तथा दैहिक उन्नति

के लिये, विशेष विशेष कार्यक्रम का अनुशीलन करना पड़ता है। जीविका अर्जन के लिये सबको मिहनत करनी पड़ती है। यहाँ स्वावलम्विता को इतना ही प्राधान्य दिया गया है, कि परपिण्डभोजियों की अपेक्षा मलाकर्षी का जीवन श्रेष्ट कह कर गण्य होता है।

सिर्फ अर्थोपार्जन तथा सुसामञ्जस्यपूर्ण तथा निर्भरयोग्य अर्थनैतिक जीवन को ही, यहाँ महत्व नहीं दिया गया है, चिर उपेक्षित सर्वनिम्न स्तर के मनुष्यों को भी यहाँ पूर्ण सामाजिक मर्यादा दी गयी है। मार्ग के प्रत्येक सदस्य को दैहिक शक्ति द्वारा दूसरों की सेवा करनी पड़ती है, जो प्रचलित प्रथा के अनुसार श्रमजीवियों या शुद्र का कार्य है। किन्तु आनन्दमार्गी यदि यह शुद्रोचित सेवा में अपनी दक्षता का परिचय नहीं दे सकता, तो वह सही मर्यादा नहीं पा सकता।

संक्षेप में हमलोगों के मार्ग में किसी भी सदस्य को चर्तुवर्ण की गुणावली, आयत्त करना होता है। इस तरह प्रत्येक सदस्य सर्वतोभावेन परिपूर्णता लाभ के पथ पर अग्रसर होता है। वह एकाधार में शुद्र से विप्र तक की भूमिका ग्रहण करता है। जिसके फलस्वरूप उसे दूसरों की उपेक्षा करने या विशेष श्रेणी गठन करने का, कोई अवकाश ही नहीं रहता है। श्रेणीहीन समाज गठन यद्‌यपि आनन्दमार्ग का मुख्य उद्‌देश्य नहीं है, तब भी इसके वास्तविक अनुशीलन के फलस्वरूप, श्रेणीहीन समाज की प्रतिष्ठा स्वाभाविक गति से होगी। वर्ण वैषम्यमूलक समाज व्यवस्था को, इस तरह भङ्‌ग कर देने की प्रचेष्टा, इसके पहले और कभी नहीं हुई। श्रेणीगत भेद अबतक खूब स्वाभाविक और युक्तिपूर्ण ढंग से विवेचित होता था। उसको भी एक वृहत् श्रेणीहीन

समाज संरचना के महत् प्रचेष्टा से, अधिकतर युक्तिपूर्ण उपाय से, भङ्ग कर दिया जा सकता है।

अतएव आनन्दमार्ग श्रोणीहीन समाज के प्रचारक आदर्शवादियों या नीति-वादियों की एक संस्था विशेष नहीं है- यह है श्रोणीहीन समाज का वाहक एक पद्धति, या धर्म या प्रणाली । साम्यवाद के उत्थान के समान आनन्दमार्ग पृथ्वी पर अर्थनैतिक क्रमविवर्तन सापेक्ष वस्तु नहीं है यह है अर्थनैतिक व्यवस्थासमूह का एक आमूल परिवर्तन । सामाजिक स्तर में आनन्दमार्गने, जिस व्यवस्था को ग्रहण किया है, वह एक विप्लव विशेष है। इससे जो परिवर्तन का लक्ष्य बनाया जायगा, वह इसके पहले कभी भी दृष्ट नहीं हुआ। यह परिवर्तन, मनुष्य के युगधर्मी समाज-चेतना प्रसूत परिवर्तन नहीं है, यह है मानव मन का मौलिक वैशिष्ट्यगत परिवर्तन

सूचीपत्र

और इसलिये मानव मनका अस्तित्व-सापेक्ष, यह परिवर्तन दीर्घस्थायी होगा ।

वैयष्टिक जीवन में मौलिक अधिकार समूह की सुरक्षा, तथा सामुहिक जीवन में शान्ति प्रतिष्ठा के उद्‌देश्य से, मनुष्य अनादिकाल से शृङ्खल समन्वित शासन व्यवस्था का प्रवर्त्तन करता आया है। यह सब कानून, शासकश्रेणों ने ही समय समय पर तैयार किया है, और प्रत्येक कानून से यही बात प्रकट होती है, कि शासकश्रेणी कानून प्रणयनकाल में, उन्होंने अपने स्वार्थ की ओर ही, सेबसे अधिक नजर रखा है ? दृष्टान्ततः मनुस्मृति में मनुने विधान दिया है, कि कोई ब्राह्मण यदि शुद्रकन्या का पाणिग्रहण करे तो उसका माथा मूड़कर, गधेके पीठपर बैठाकर, शहर परिक्रमा कराना होगा, और शूद्र, यदि किसी ब्राह्मण पुत्री का पाणिग्रहण

करे, तव उस दशौ में उसकी शास्ति होगा, प्राणदण्ड। इस तरह की कानून व्यवस्था समाज में ब्राह्मणों के प्रभुत्व रहने के समय गृहीत हुयी थी। ब्राह्मणों का प्रभुत्व कम होने के साथ साथ इस को ले हर वादानुवाद शुरू हुआ। ब्राह्मण प्रभुत्व कम होने पर भी और अनेकों ने अपने अपने स्वार्थ के सुधोग को अव्याहत रखकर, विविध विधि की रचना की थी। इनमें से किसी ने राजा को सब से अधिक मर्यादा दी है। किसी ने देश या राज्य को राजा से ऊंचा स्थान दिया है। और किसी ने अपने धर्म के माहात्म्य को सव से अधिक बड़ा कर देखा है। इन सब समाज व्यवस्था में, किन्तु एकता का परिपोषक कोई साधारण आदर्श नहीं था । निरापत्तामूलक विधि में भी समाज के भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों के लिये निरापत्ता का धरण-धारण भिन्न भिन्न प्रकार का था। यह इस देश के ब्राह्मण-शुद्र या श्वेतकाय-कृष्णकाय

अमेरिकन के समान था। साधारण अधिकार तथा दायित्व दर्जित समाज-व्यवस्था शान्तिपूर्ण और स्थायी किसी समाज की प्रतिष्ठा कर नहीं सकती । किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा दिन बढ़ता ही जाता है। चिरस्थायी समाज प्रतिष्ठा की भावना ही एक विप्लव विशेष है। जो सव व्यष्टि आनन्दमार्ग की समाज प्रतिष्ठा के लिये भाग ग्रहण करते हैं, वे सिर्फ आदर्शवादी या नीतिवादी ही नहीं हैं, वे हैं जातिवर्णविहीन वास्तववादी लोगों का एक दल या गोष्ठी, जो सिर्फ श्रोणीहीन समाज प्रतिष्ठामूलक चिन्तनकर या प्रचार कर ही रुक नहीं जाते, इसके अलावे मनुष्यके गुण या क्षमता को केन्द्रकर, पृथ्वो में जितनी श्रेणीयाँ बनी हैं, उस प्रत्येक का सदस्य होने की योग्यता अर्जन के लिये, तत्पर हो जाते हैं। इसी के साथ वे ब्रह्म को साधारण आदर्श के रूप में ग्रहण कर दृड़ एकताके सूत्र में आबद्ध होते हैं।

यह आदर्श, शाश्वत, और किसी भी श्रेणी के लोगों के हित में समान गुरुत्वपूर्ण है। यहाँ की सामाजिक विधि, मनुष्य-मनुष्य में भेद को प्रश्रय नही देती है। यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों को ही जीवन-संग्राम में समान दायित्व ग्रहण करना पड़ता है। वैधव्य प्रभृति सामाजिक कु-संस्कारादि को यहाँ कोई स्थान नहीं दिया जाता है।

राष्ट्रीय तथा सामाजिक नियम-कानून के प्रति आनुगत्य का, यहाँ ब्रह्म के प्रति आनुगत्य के पश्चात् ही स्थान दिया जाता है। जातिच्युत करना, विधवा या स्त्रियों को किसी किसी सामाजिक अनुष्ठान में योगदान की अनुमति नहीं देना इन सब चीजों का यहाँ कोई स्थान नहीं है। आनन्दमार्गने ऐसे समाज की स्थापना की है, जहाँ साधारण आदर्श या तत्सापेक्ष समाजके स्वार्थ को लक्ष्य रख कर ही, कानून

सूचीपत्र

प्रणयन करता होता है। यह समाज, अन्य कोई समग्र मानव समाज से सम्पूर्ण स्वतंत्र है, क्योंकि यहाँ जातिवर्णगत वैषम्य को प्रश्रय नहीं दिया जाता है, व्यष्टि विशेष को जातिच्युत कर, उसके संशोधन का पथ रुद्ध किया नहीं जाता। और मुट्ठीभर लोगों के स्वार्थ की बात को ध्यान में रख कर कानून तैयार किया नहीं जाता। इस प्रकार के समाज में कोई दुर्बल या निपीड़ित नहीं रहेगा या कोई दूसरे को, उसके ऊपर शोषण करने का सुयोग नहीं देगा। अनेक मनीषी और अनेक स्माों ने ही, इसके पहले इस प्रकार के समाज प्रतिष्ठा का स्वप्न दिखाया था या उस उद्देश्य के लिये प्रचार किया था, किन्तु आनन्दमार्गने जिस तरह से एकाधार में चतुर्वर्ण से गुणमण्डित मनुष्य तैयार करने

का महान व्रत ग्रहण किया है, ऐसा प्रयास और कभी भी, किसी में देखा नहीं जाता ।

इस तरह आननदमार्ग को अर्थनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में, यदि विप्लव की संज्ञा दी जाव तो, मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में, इसे वृहत्तर विप्लव कहा जायगा ।

अबतक दार्शनिक या चिन्तन-नायकगण, परिदृश्यमान जगत् को अपनी तुलना में, नश्वर कह कर घोषणा करते आये हैं। किन्तु इस विषय में आनन्दमार्ग की दृष्टिभंगी सम्पूर्ण पृथक है। आनन्दमार्ग के दर्शन के अनुसार मनुष्य के निकट उसका अस्तित्वबोध जैसा या

जितना सत्य है, परिदृश्यमान जगत भी ठीक वैसे ही, उतना ही सत्य है ।

चिन्तनधारा का इस प्रकार का प्रभाव है कि यह कितना सुदूर प्रसारा है वह सामान्य दृष्टि से समझा नहीं जा सकता। इससे जगत् के सामने मनुष्य की मर्यादा ही सिर्फ नहीं बढ़ जाती है, मनुष्य के निकट जगत् का भी मूल्य बढ़ जाता है। जगत् या कोई जागतिक क्रियामात्र ही मनुष्य के समान, उसी परम शाश्वत सत्ता काही विकाश विशेष है। इसलिये आननदमार्ग जगत को परित्याग करने की शिक्षा नहीं देता है। वरन् कहता है कि प्रत्येक के निकट जगत का प्रयोजन अपरिहार्य है। जीव और जगत् को इस तरह समान मर्यादा देने की भावना निःसन्देह एक विप्लवात्मक भावना है। गृही या सन्यासी को

सूचीपत्र

आनन्दमार्ग, एक ही दृष्टि से देखता है। विप्लवात्मक साहस छोड़कर, आनन्दमार्ग निश्चय ही ऐसा बोल नहीं सकता है।

वर्तमान तथा अतीत के जिस किसी भी धर्मीय मतवाद ने ही ऑडेयात्मिक अनुशीलन के पथ में, नाना प्रकार का वाघा-निषेध आरोप किया है। हिन्दू मतवाद में भी ऐसे बाधा-निषेध है। प्रायः सभी मतवादों में ही हैं, ऐसे बाधा निषेध के घरे । किन्तु आनन्दमार्ग में ऐसा नहीं है। आध्यात्मिक अनुशीलन, जो इतने दिनों तक गृहियों के लिये अनधिकार की वस्तु थी, उसे प्राप्त करने के लिये, यहाँ किसी को सन्यास नहीं लेना पड़ता है। आध्यात्मिक शिक्षा के विषय में आनन्दमार्ग जाति, वर्ण या स्त्री-पुरुषगत कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता । गृही अपने पारिवारिक परिवेश में रहकर, जीविकोपार्जन में

तत्पर रहकर, आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। इसके पहले और किसी ने इस बात का विचार ही नहीं किया। किन्तु आनन्दमार्ग के वैप्लविक चिन्तनधारा में, यह विषय भी संभव हुआ ।

हमलोगों की इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ निश्चय ही परम शाश्वत सत्ता का ही विकाश है। इसलिये तत्संक्रान्त यावतीय कार्य को ईश्वर आराधना समझकर सुचारुरूप से सम्पन्न करना होगा। ब्रह्म सर्वव्यापक हैं, इसलिये उनकी उपलब्धि के लिये किसी को घर द्वार छोड़कर, हिमालय जाना नहीं होगा। हमलोग जो कुछ करते हैं, देखते हैं, सुनते हैं था उपलब्धि करते हैं, वह ब्रह्ममय है- यह एक महत् भावना है। इस प्रकार का वैप्लविक दर्शन अबतक किसी मनीषीने प्रचारित नहीं किया हैं।

प्रचलित दार्शनिकों के अर्थनैतिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से, आनन्दमार्ग सम्पूर्णरूप से स्वतंत्र वस्तु है। उसको जन-जीवन के मानसिक, अर्थनैतिक तथा सामाजिक स्तर का क्रमोन्नयन-संजात वस्तु बोलना उचित नहीं है। यह सम्पूर्णरूप से एक नवीन तथा वैप्लविक जीवनादर्श है, जिसके साथ अतीत के या वर्त्तमान के और किसी आदर्श का योगसूत्र खोजने से नहीं पाया जाता है। यह परिवर्तन-कालिक परिवर्तन-सापेक्ष वस्तु भी नहीं है। यहाँ जो कुछ कहा जाता है या अनुशीलन किया जाता है, वह सभी नूतन है, यह वैप्लविक आदर्श, मानव जीवन को वास्तववादी बना देता है। गृह-संसार त्यागकर एक विच्छिन्न जीवन यापन करने की अपेक्षा पारिवारिक जीवन में किस तरह

सामञ्जस्य विधान करना होता है, यह मनुष्य यहाँ सीखते हैं।

जीवन के सर्वस्तर का उपयोगी तथा सामूहिक जीवन में सहायक आदर्श मनुष्य गठन के लिये, महान प्रचेष्ठा में आनन्दमार्ग व्रती हुआ है। निम्नोक्त श्लोक की आवृत्ति से ही समझा जाता है, कि सम्पूर्ण मानव को तथा जीव-समाज को एकता के सूत्र में आबद्‌ध करने की भूमिका में, आनन्दमार्ग की दृष्टिभङ्गी कितना उदारऔर वास्तवधर्मी है-

संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसिजानताम

देवाभागं यथापूर्वे संजानाना उपासते ।

समानीव आकुति समाना हृदयानिवः

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

('तात्विक प्रवेशिका' से उद्‌धृत)

धर्म क्या है ?

विकास के क्रम की चरम सीमा पर मनुष्य अपने चैतन्य के, मनुष्य अपने इसी विकसित चैतन्य के कारण अच्छा बुरा का निर्णय करने तथा विपत्ति से

सूचीपत्र

मुक्ति पाने का पथ ढूंढ़ने में सक्षम है। जीव मात्र ही दुर्दशा तथा क्लेशपूर्ण जीवन नहीं चाहता है। और प्रतिकार करने में सक्षम विकसित चैतन्य जीव-मनुष्य- तो बिलकुल ही नहीं चाहता है। वस्तुतः मनुष्य का स्वभाव ही है आनन्द को ढूंढ़ना । देखों, मनुष्य आनन्द प्राप्ति के उद्देश्य से क्या करता है ? तथा उसको यह प्राप्त होता है या नहीं।

आनन्द की खोज में मनुष्य सर्व प्रथम पार्थिव भोगों की ओर ही आकृष्ट होता है, इच्छा की निवृत्ति के लिये वह धन संचय करता है, शक्ति और प्रभाव अर्जन करने में तत्पर होता है, किन्तु ये सारी वातुयें उसे आनन्द नहीं दे पाती हैं। जिसके पास आज एक सौ रुपया है वह एक हजार पाना चाहता है, जिसके पास एक हजार है, वह लाख रुपये का मालिक बनना चाहता

सूचीपत्र

है। इच्छाओं की इस प्रकार से क्रमशः बढ़ती हुई गति का अन्त नहीं होता है। आज जो अपने जिला में प्रभाव-शाली व्यष्टि है, वह चाहता है कि सारे प्रदेश में मैं प्रभावशाली बनूं, उसी प्रकार प्रादेशिक नेतागण राष्ट्र नेतागण बनना चाहते हैं और राष्ट्रनेता बनने पर भी उनके मन में विश्व नेता बनने की वासना जग उठती है। आर्थात् सीमित सम्पत्ति, यश, शक्ति, प्रभाव इत्यादि मनुष्य की वासनाओं की निवृत्ति नहीं कर पाते हैं। वरन् भोग की वृत्ति को और भी बढ़ा देते हैं और इन सबसे मनुष्य की अनन्त क्षुधा अतृप्त ही रह जाती है।

कितना भी अधिक धन की प्राप्ति क्यों न हो, अनन्त सुख के प्यासे मानव मन को वह परितृप्त नहीं कर सकती है। जो लोग धन, मान, यश, ख्याति इत्यादि के पीछे दौड़ते हैं, वे जब तक इन सबको अनन्त

परिमाण में नहीं पाते, तब तक कभी तृप्त नहीं हो सकते हैं; किन्तु, पृथ्वी स्वयम् एक सीमित सत्ता है, अतएव इस पर की सभी सृष्ट पार्थित वस्तुएँ अवश्य ही सीमित हैं। इन सबको अनन्त रूप से पाना सम्भव नहीं हैं। अतएव पार्थिव प्राप्ति कितनी भी महान् क्यों न हो, भूमण्डल ही क्यों न हो, फिर भी वह अनन्त तथा शाश्वत नहीं है। तब वह शाश्वत सत्ता क्या है, जो मनुष्य को चिरन्तन सुख दे सकती है ? 3

भूमा सत्ता ही केवल अनन्त एवं शाश्वत है और उनकी उपलब्धि से मनुष्य नश्वर पार्थिव मान, ऐश्वर्य, को अनन्त क्षुधा की आत्यन्तिकी निवृत्ति सम्भव है। शक्ति, प्रभाव आदि ने मनुष्य को इस स्थिर सिद्धांत पर ला दिया है, कि शान्त सीमित पृथ्विी की किसी भी वस्तु से अनन्त सुख पाने की चिरन्तन स्पृहा की तृप्ति

सदा के लिए नहीं हो सकती है, यह सम्भव है केवल उस विभुसत्ता ब्रह्म की उपलब्धि से ही । वास्तव में मनुष्य की अनन्त भोगवासना के पीछे ब्रह्मोपलब्धि की ही इच्छा प्रच्छन्न भाव से रहती है। अतएव, ब्रह्मोपलब्धि ही मनुष्य का धर्म है और जीव मात्र का यही स्वभाव है।

धर्म शब्द का अर्थ है उसकी निजी विशेषता या गुण। इसका अंग्रेजी प्रतिशब्द है नेचर (Characteristic or property) अग्नि का धर्म या स्वभाव है जलाना । अग्नि और उसका धर्म यह दोनों जिस प्रकार अलग नहीं हो सकते हैं, मनुष्य और उसका धर्म ब्रह्मोपलब्धि की इच्छा भी ठीक उसी प्रकार की है।

मनुष्य में चैतन्य के विकास के साथ-साथ पशुत्व की भी भावना है। सृष्टि के क्रमविकास की धारा में पशु जीवन से मानव जीवन का विकास हुआ है, इसलिए मानव जीवन में वृत्ति की द्विमुखी गति दिखाई देती है। जड़ाभिमुखी गति उसको पशुत्व की ओर खींचकर ले जाती है और इसके विपरीत सूक्ष्म की ओर की गति उसको पशुत्व से मुक्त करती है। पशु जीवन में पशुत्व का व्यापक विकास दिखाई देता है और मानव जीवन में चैतन्य का अधिकाधिक विकास होने के कारण, विचार और विवेचना का भी महत्व परिलक्षित होता है। पशुत्व की प्रबलता के कारण, मनुष्य आहार-पान प्रभृति जिन स्थूल भोगों की ओर आकृष्ट होता है, वे सब कभी भी उनकी अनन्त क्षुधा की निवृत्ति नहीं कर सकते हैं। पशुओं की भोग वृत्ति अनन्त नहींय होने के कारण, उनकी परितृप्ति इन सीमित भोग्य वस्तुओं से होती है।

सूचीपत्र

भोगें वस्तुयें अपर्याप्त मात्रा में होने पर भी पशु उन्हें अपनी आवश्यकता से अधिक नहर ग्रहण करता है, किन्तु वैसी ही अवस्था में मनुष्य निश्चय ही उसी प्रकार का व्यवहारी नहीं करता । इससे यही साबित होता है कि पशु की भोग लालसा सीमित है किन्तु मनुष्य की अनन्त । यद्‍यपि दोनों ही क्षेत्र में पशुत्व को केन्द्र बनाकर ह भोगाभिमुखी गति अभिव्यक्त होती है। मनुष्य का विकसित चैतन्य ही इन दोनों में यह विभेद सृष्ट करता है। इस विकसित चैतन्य के कारण अनन्त सुख पाने की अनन्त भूख नश्वर सीमित पार्थिव सुख, ऐश्वर्य, शक्ति, प्रभाव आदि से नहीं मिटती, वरन् उसको और भी अधिक ब्रह्मानन्द की ओर आकृष्ट करती रहती है।

मनुष्य के पशुत्व और विवेक के बीच सदा संघर्ष चल रहा है। पशुत्व उसको जागतिक भोगों की ओर उत्साहित करता है और अतृप्त तथा जाग्रत विवेक उसकी ब्रह्माभिमुखी गति का अन्त नहीं होने देता है। शक्ति, प्रभाव आदि के द्वारा अजित भोग सामग्रियाँ यदि असीम और अनन्त होतीं, तो वे अवश्य ही आनन्द चाहने वाले विवेक को, अनन्त क्षुधा को, तृप्त कर सकतीं। किन्तु वे असीम अनन्त नहीं हैं और इसी कारण नश्वर पार्थिव भोगों की चरम मर्यादा भी मनुष्य के मन को शाश्वत शांति प्रदान कर उसको भूमानन्द में अधिष्ठित नहीं कर पाती हैं।

चैतन्य का व्यापक विकास ही मनुष्य और पशु में भेद बताता है। तो क्या इस चैतन्य का सद्व्यवहार मनुष्य का एक मात्र कत्र्तव्य नहीं है ? उसका चैतन्य

या विवेक यदि पशुत्व में ही लीन रह जाय, तो अवश्य ही उसका आचरण पशु के समान हो जायेगा । वास्तव में वह पशु से भी अधम है; क्योंकि चैतन्य का व्यापक विकास पाकर भी वह इस सुयोग से लाभ नहीं उठाता । इस प्रकार का मनुष्य निश्चय ही मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। ऐसे सभी व्यक्ति मानव शरीर में पशु हैं।

चैतन्य का धर्म ही है अखण्ड सत्ता ब्रह्म को पाने की चेष्टा करना । विकसित चैतन्य की प्रेरणा को कार्यान्वित कर, जो मनुष्य नाम को सार्थक बनाते हैं, वे देखेंगे कि उनका लक्ष्य अवश्य ही एकमात्र अद्‌वितीय अनन्त ब्रह्म हैं। ब्रह्मोपलब्धि की यह इच्छा ही मनुष्य की विशेषता, गुण या धर्म है।

इच्छा का पूर्ण होना ही आनन्द है। इच्छित वस्तु नहीं मिलने पर मनुष्य का मन दुःख से भर आता है। विकसित चैतन्य ही मनुष्य को पशुता से मुक्त करता है और ब्रह्मोपलब्धि के मार्ग का अनुशीलन कराता है। इसीलिये ब्रह्मोपलब्धि की चेष्टा में संलग्न होने से ही मनुष्य यथार्थ आनन्द पाता है। इससे हमलोग इस सिद्धांत पर पहुंचते हैं कि अनन्त या ब्रह्म की उपलब्धि करना ही, हुआ विश्व-मतवाद या मानव धर्न । केवल इसी धर्म के अनुशीलन से ही मनुष्य शाश्वत सुख या परमा शांति पा सकता है ।

अहिंसा और सत्य

सूचीपत्र

तुमलोग जानते हो कि यम का पाँच अङ्ग है। "अहिंसासत्यास्तेयं ब्रह्मचर्योऽपरिग्रहाः यमाः ।"

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; ये पाँचों अङ्ग विभिन्न पद्धतियों से साधक को संयम की शिक्षा देते हैं। संयम शब्द का अर्थ है नियन्त्रित व्यवहार । यह वात अच्छी तरह से याद रखो कि संयम का अर्थ किसी की हत्या करना अथवा किसी को नष्ट करना नहीं है ।

"अहिंसा - मनोवाककायैः सर्वभूतानामपीड़नहिंसा"

- मन, बोली और शरीर के द्वारा किसी को पीड़ा, या कष्ट न पहुंचाने को ही अहिंसा कहते हैं ।

इस अहिंसा शब्द का अर्थ लेकर बहुत लोग बहुत तरह की भूल कर बैठते हैं। कोई-कोई पंडित तो अहिसा शब्द की इस प्रकार की व्याख्या करते हैं कि जिसका ठीक-ठीक व्यवहार करने से घर द्‌वार में रहने की बात दूर रहे; वन, जंगल या पर्वत की गुफाओं में भी रहना असम्भव हो जायेगा। इस अहिंसा शब्द का इस तरह का अर्थ मानने से किसी की हत्या करने की बात तो दूर रहे, शत्र के ऊपर भी आघात नहीं किया जा सकता । हल चलाने से पृथ्वी के नीचे कितने कीड़ों की, कितने प्राणियों की मृत्यु होने की सम्भावना रहती है, अतः वह भी नही चल सकता ।ऐसे पंडित कहते हैं कि जो द्‌विज धार्मिक जीवन बिताना चाहते हैं, वे प्राणी-हत्या से बचने के लिए स्वयं हल न चलाकर शूद्रों से हल चलवा कर खेती करें। मनुष्य को भोजन मिले या न मिले चीटियों

के बिलों में चीनी डालनी चाहिए । अथवा मनुष्य जाति के जन्मजात शत्रु खटमलों को बचाने के लिए दरिद्र को अपने स्वस्थ शरीर का खून पिलाना चाहिए। किन्तु यह अहिंसा की व्याख्या नहीं- अपव्याख्या है। यह वास्तविक धर्म के विरुद्ध है जीवधर्म के विरुद्ध हैं। तुम्हारे सांस लेने और छौड़ने की क्रिया में असंख्य जीविणु आते-जाते हैं। वे भी तो सब जीवित प्राणी हैं। तब तो उनको बचाने के लिए तुम्हें श्वास प्रश्वास क्रिया भी बन्द कर देनी होगी। रोगी शरीर को अनेक प्रकार के विषकारक कृमि, अणुजीवसमूह से रक्त करने के लिए औषधि सेवन भी बन्द कर देना होगा । अहिंसा का इस प्रकार का अर्थ यदि लिया जाय, तो भला ऐसा अर्थ बतानेवाले ठहरेंगे कहाँ ? उनको तो बिशुद्ध जल पीना भी छोड़ देना होगा, क्योंकि जल को साफ करने के क्रम में कितने ही प्रकार के दूषित जीवाणुओं की मृत्यु हो जाती है। और,

वे बिना साफ क्रिया पानी भी नही पी सकते, क्योंकि पेट में जाने के बाद जल में छिपे हुए जीवाणु, सम्भव है, मर जाएँ। भारतवर्ष में वैदिक युग के बाद बहुत दिनों तक इस प्रकार की अहिंसा का प्रचार था, जिसके कारण साधारण लोगों का जीना कठिन हो गया था। अहिंसा-प्रधान दृष्टि से देखने लगी थी और अन्त में धर्मपथ करने को बाध्य हो गयी थी। नीतिज्ञान से समझने वाले नास्तिक समाज तथा दुनियाँ के लिए तथाकथित अहिंसा धर्म को बलपूर्वक. पकड़ कर धर्म को साधारण जनता भय की को छोड़कर नास्तिक मत स्वीकार रहित, अपने स्वार्थ को सब कुछ वोझ हो गये थे और जो इस रखनेवाले थे, वे वास्तविकता से विमुख और स्वभाव से क्लीव समझे जाते थे । पुराने इतिहास के इस तथ्य को आज के युग में नए रूप से विचार कर देखने की आवश्यकता है ।

सूचीपत्र

इसके बाद एक और युग आया था जिसमें साधारण जनता में अहिंसा की एक और नई तरह की व्याख्या का प्रचार हुआ।। इस व्याख्या के अनुसार जीव को किसी प्रकार का कष्ट देना तो हिंसा था, पर खाने के लिए पशुओं की हत्या करना हिंसा में नहीं गिना जाता था। इस बिचार में बहुत बड़ी तू टि है। कष्ट देने मात्न को ही यदि हिंसा कहें, तो खाने के लिए भी पशुओं की हत्या हिंसा कही जायेगी; क्योंकि इसके लिए भी पशु हँसते हुए मलकाठ (यूपकाष्ठ) में अपना सिर नहीं दे देते हैं।

आजकल अहिंसा की और नई व्याख्या सुनी जाती है, जो प्रायः दूसरी व्याख्या से मिलती जुलती है। परन्तु, दूसरी व्याख्या में जो सरलता और निष्ठा मालूम

होती है, इसमें वह भी नहीं है। इसमें भी अहिसा का अर्थ Non-violence अर्थात् 'शक्ति का प्रयोग न करना' माना गया है। सम्भवतः इस प्रकार की व्याख्या में ही हिंसा शब्द का सबसे अधिक दुरुपयोग किया गया है। संसार के छोटे-बड़े सब कामों में जीव को प्रतिकूल भाव के बिरुद्ध शक्ति का प्रयोग करके आगे बढ़ना होता है। शक्ति के इस प्रयोग के माध्यम से ही जीवन का प्रकाश प्रकट होता है। यदि यह शक्ति संप्रयोग न हो तो, जीवन जड़ता के अन्धकार में खो जाए । परन्तु कोई बुद्धिमान मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि यह उसकी गति के धर्म के विरुद्ध है। इसके फलस्वरुप Non-violence (अचण्डता) अर्थवाली तथाकथित अहिंसा के मतवाद को किसी दूसरे गूढ़ उद्देश्य में प्रयोग करने के लिए ऐसे अहिंसावादियों को कदम-कदम पर ढोंग करना पड़ता है, कपटाचरण का आश्रय लेना पड़ता है।

किसी देश के लोग यदि किसी दूसरे देश को बलपूर्वक जीत लें, इस अवस्था में हारे देश के लोग शक्ति का प्रयोग करके अपनी स्वाधीनता प्राप्त करेंगे। शक्ति का प्रयोग स्थूल भी हो सकता है, सूक्ष्म भी और इसके फलस्वरूप आक्रामणकारी का शरीर और मन दोनों आहत हो सकते हैं। इसमें आघात तो होगा ही और जब आघात होगा ही तब उसे किसी तरह भी Non-violence (अचण्डता) नहीं कह सकते हैं। हाथ से न मार कर लड्डू से मारना क्या violence (चण्डता) नहीं है ? देश-विशेष या जाति विशेष के विरुद्ध वायकट आन्दोलन क्या violence नहीं है। इसीसे कहते है Non-violence (अचण्डता) और अहिसा को एक समझने से उस अहिंसा नीति का समर्थन करने के लिए बार-बार ढोंग करना पड़ता है। देश के शासन के लिए पुलिस या सेना की आवश्यकता पड़ने पर बन्दूक भी बल का प्रयोग न की

गोली में तथाकथित करें तो उनका अस्तित्व ही निरर्थक ही जाए। अहिंसा की मोहर भर देने से ही तो गोली Non-voilent (अचण्ड) नहीं हो जाती ।

अत्याचारी का प्रतिकार करने के लिये जितनी शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता हो, उतनी शक्ति जिसको न हो तो, उसके लिए यही उचित है कि वह सब तरहसे शक्ति सञ्चय करने में लग जाय और जो शक्ति पाये उसका उचित रीति से व्यवहार करे । शक्ति नहीं, शक्तिसंचय करने के लिये साधना भी नहीं; पर अपनी इन सारी दुर्बलताओं को शत्रुओं के सामने स्वीकार नहीं करने के उद्देश्य से अपने को हिंसक कहने से कोई कूटनीतिक उद्देश्य भले ही सिद्ध हो; परन्तु उससे साधुता की मर्यादा की रक्षा नहीं हो सकती ।

सूचीपत्र

साधना जगत में अहिंसा का अर्थ जो लिया जाता है, वह तो पहले ही कह चुका हूँ। इस अर्थ के अनुसार तुम्हें सदा ही सावधानी से सोच-विचार कर चलना होगा, जिससे तुम्हारे विचारों से अथवा कार्य से कोई पीड़ित न हो किसी पर अत्याचार न हो। तुम्हारे जिस किसी विचार या कार्य के पीछे किसी को तकलीक देने का भाव हो, तो वह हिंसा है। जीवदेह धारण करने में तो जीव हत्या होगी ही, इसमें किसी को पीड़ा पहुंचाने की इच्छा हो या न हो; साँस लेने और छोड़ने में ही तो हजारों-हजार जीवाणु मरते हैं। तुम्हारी स्थूल देह ही तो हजारों-हजार जीव-कोषों से मिलकर बनी है। तुम जानों या न जानों, शरीर के प्रत्येक काम के फलस्वरूप हरक्षण वे मरते हैं और नष्ट होते हैं। शरीर को निरोग रखने के लिए तुम जो दबाइयां खाते हो उनसे लाखों-लाख रोग के कीटाणुओं को तुम हत्या करते हो। कीड़े, मकोड़े, फसल

नष्ट करने वाले पशु, खटमल, मच्छड़, आदि जीवों की न जाने कितनी प्रकार से हत्या करते हो। यह तो तुम देह धारण के लिए करते हो; किसी के पीछे दूसरों को कष्ट देने की इच्छा नहीं है। इसलिए ये काम भी हिंसा नहीं है। देह की रक्षा करने लिए यह सब तो करना ही पड़ेगा। जीव-देह की सृष्टि, पालन और विनाश में प्रतिक्षण जीव देह का संघटन और विघटन होता रहता हैं। तुम जो भात खाते हो वह भात जिस धान से हुआ, क्या उसमें जीव नहीं है ? उसमें भी तो अंकुर निकलते हैं, वंश-वृद्धि का सामर्थ्य तो उसमें भी है; किन्तु देह की रक्षा करने के लिए तुमने उस् धान की हत्या कर चावल तैयार किया । परन्तु चावल बनाने के समय तुम्हारे मन में, क्या किसी को पीड़ित करने का विचार था ? इस तरह देखते हो कि प्राणी का भोजन प्राणी ही है, यहाँ पर हिंसा और अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता;

यदि उठे, तो जीत्र को ईंट, बालू, पत्थर खाकर रहना पड़ेगा । श्वास-प्रश्वास की क्रिया भी छोड़ देनी होगी, अर्थात् आत्महत्या करनी होगी। परन्तु यह वात बिलकुल ठीक है कि खाद्यग्रहण करने के समय दो विषयों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात, जहाँ तक सम्भव हो ऐसी ही चीजों से खाद्य चुना जाय, जिसमें चैतन्य का विकास कम हो; अर्थात् शाक-सब्जी मिलने से पशु हत्या न की जाय । दूसरी बात, किसी भी अवस्था में खाने के लिए किसी जीव को चाहे वह विकसित चैतन्य या अविकसित चैतन्य का हो, हत्या करमे के पहले विचार कर देख लेना होगा कि इसकी हत्या किये बिना भी हम स्वस्थ शरीर से जीवित रह सकते हैं कि नहीं ? मनुष्य का शरीर असंख्य जीव-कोशों से मिलकर बना है। ये जीब-कोश अपने अनुकूल जीवित सत्ता पाकर पुष्ट होते हैं और बढ़ते हैं। इसीलिए तुम जैसा भोजन करोगे,

उसीके अनुकूल तुम्हारे जीव-कोशों का स्वभाव बनाना रहेगा और अन्त में उन सबका मिलकर तुम्हारे मन पर भी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा ही। इसीलिए यदि गले पचे, दुर्गन्ध-युक्त, जीव-युक्त वस्तु से या ताजा पशु मांस से जिसमें हीन वृत्ति ही प्रबल रहती है, अपने शरीर के कोशों का निर्माण करो, तब तो तुम्हारे मन में हीनवृत्ति की प्रवलता स्वाभाविक ही है। इसमें हिंसा या अहिंसा का प्रश्न न रहने पर भी विना सोचे-विचारे जो पाओ सो खाओ' की नीति का समर्थन नहीं किया जा सकता । जैसा मन में आवे वैसा करना यह तो कोई नीति नहीं है। नीति तो सोच बिचार कर निर्धारित की जाती है। अतः शरीर धर्म का पालन करने के लिए भोजन के सम्बन्ध में तुम्हें एक नीति निद्धीरित कर चलना ही होगा। नहीं तो यह काम अपरिग्रह की नीति

के विरूद्ध होगा । अपरिग्रह क्या है; यह बाद में समझाया जायेगा।

हिंसा और शक्ति का प्रयोग दोनों एक चीज नहीं है। लेकिन कहीं-कही शक्ति के प्रयोग का फल हिंसापूर्ण हो उठता है, यद्यपि वहाँ पीड़ा पहुंचाने का विचार मन में नहीं रहता। परिस्थिति के दवाव में पड़कर जिन लोगों के विरुद्ध इस प्रकार का बल प्रयोग (जिसका परिणाम हिंसापूर्ण होता है) किया जाता है उन्हें संस्कृत में आततायी कहा जाता है।

क्षेत्रदारापहारीण्च शस्त्रधारीधनापहाः ।

अग्निदगरदश्चैव षड़ते ह्यातताविनः ।

अर्थात् जो बलपूर्वक तुम्हारी जमीन-जायदाद पर अधिकार करना चाहता हो, जो तुम्हारी पत्नी का अपहरण करना चाहता हो, जो शस्त्र लेकर तुम्हारी हत्या करने आया हो, जो तुम्हारा धन लूटना चाहता हो, जो घर में आग लगाने आया हो अथवा जो विष देकर तुम्हारी जान लेना चाहता हो, उसे आततायी कहा जाता है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति या राष्ट्र की तरफ से कोई किसी दूसरे राष्ट्र को पूरा या उसका कोई हिस्सा दखल करना चाहे; तो उस आक्रमण करने वाली शक्ति का, शस्त्र के साथ सामना करना अहिंसा नीति के विरुद्ध नहीं है। बल्कि ऐसी अवस्था में अहिंसा-नीति की गलत व्याख्या करने से अर्थात्, हिंसा और शक्ति के प्रयोग को एक समझ लेने से जनसाधारण को दीर्घकाल तक धन हानि, मनस्ताप और अन्यान्य बहुत तरह के दुःख कष्ट भोगने पड़ते हैं ।

अनेक अवसरों पर बहुत लोग किसी कुसंस्कारी मनुष्य को युक्ति से न समझा कर ऐसी बात करते हैं, जिससे उसके मन पर चोट पहुंचती है। इतिहास के पृष्ठ उलट कर देखो, बार-बार मूर्ति-पूजा के विरोधियों ने उन सुन्दर-सुन्दर मन्दिरों को तोड़कर नष्ट किया है, जो शिल्पकला के अपूर्व उदाहरण थे। मनुष्य के मन की सौन्दर्य-कल्पना, शिल्प-कला की पराकाष्ठा, जिन सुन्दर मूर्तियों में प्रकट हुईं, उनको नष्ट भ्रष्ट कर दिया। ऐसे कार्य अत्यन्त हिंसा-मूलक हैं; क्योंकि इसमें मूर्ति-पूजकों के मन में बहुत बड़ी चोट लगती है और इसके फल-स्वरूप वे मूर्ति-पूजा को मन ही मन व्यर्थ समझते हुए भी, जिद के कारण मूर्ति को जकड़ रखना चाहते हैं। और फलतः केवल उनकी ही आध्यात्मिक उन्नति में बाधा नहीं होती; बल्कि समूचे मानव समाज की

अग्रगति में बाधा पड़ती है। याद रखो, यदि किसी देश में शत-प्रतिशत मनुष्य निराकारवादी हो, अर्थात् मूर्ति-पूजक एक भी न रहे; तो वैसी अबस्था में भी ब्रह्मचर्य साधक उस मूति को, वस्तु के उचित व्यवहार के लिए; यत्न पूर्वक अजायबघर (Museum) में सुरक्षित रखेंगे, किसी भी प्रकार उसे नष्ट नहीं करेंगे। कला को नष्ट करने से मनुष्य के मन में जो सूक्ष्म रस बोध है, वह भी तो नष्ट ही जाता है और यह किसी भी तरह उचित नहीं है ।

शिखा अथवा जनेऊ के लिए जिसके मन में मोह है, उसका मन जड़ वस्तु में लगा रहने के कारण उसकी साधनाकी अग्रगति में अवश्य बाधा होगी । यदि कोई जबर्दस्ती उसकी शिखा या जनेऊ हटा देना चाहे, उससे क्या कोई खास लाभहोगा ? नहीं उससे तो उसका मन

शिखा और उपवीत की चिन्ता में इतना अधिक फँसा रहेगा कि वह ठीक तरह से ब्रह्मसाधना के लिए भी समय नहीं पा सकेगा। इससे अच्छा तो यह होगा कि ब्रह्मभावना करते-करते जब मन बृहत् के भाव में व्याप्त होता जायगा, तब उसके मनसे शिखा और सूत्रकी संकीर्णता अपने आप हट जायगी और उसी अवस्था में शिखा-सूत्र सचमुच में छोड़ना उसके लिए सम्भव होगा ।

यमसाधना के अहिंसा अंग को अब तो निश्चय ही अच्छी तरह समझ गये होंगे। अब कहो तो, माँ बाप जो बच्चों को पीटते हैं वह हिंसा है, अथवा अहिंसा ? वह हिंसा नहीं है; क्योंकि वहां पीड़ा या कष्ट देने की इच्छा एकदम नहीं हैं। वहाँ रुलाकर कष्ट देने का उद्‌देश्य जरा भी नहीं है; बल्कि सुधार करने का ही भाव

रहता है। चोर डकैत, साधु-मित्र या और किसी के विरुद्ध सच्ची भलाई की भावना लेकर जो संशोधन के लिए व्यवस्था की जाय, वह ऊपरी दृष्टि से चाहे कितनी भी क्यों न कठोर दीख पड़े; पर वह हिंसा नहीं कही जा सकती है। अब समझ गये होगे कि व्यवहारिक जीवन में सच्ची अहिंसा को मान कर चलना बिलकुल कठिन नहीं है।

मांसाहार अत्यन्त लोभ प्रकट करता है। विशेषकर उन ग्रीष्म प्रधान देशों में जहाँ साग-सब्जी खूब पाई जाती है, मांसाहार आत्यन्तिक लोभ छोड़कर और कुछ नहीं । परन्तु चिकित्सक के कहने पर, रोग छूट जाने के बाद पथ्य के रूप में अथवा दवा बनाने के साधन के रूप में आमिष का व्यवहार हिंसा अथवा लोभ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वहाँ हिंसा या लोभ की वृत्ति से

स्वीकार नहीं किया जाता। यह काम तो केवल जीवित रहने के लिए किया गया है। हिम-प्रधान देशों में इसी आवश्यकता से लोग पशुओं का मांस खाते हैं, पशुओं का चमड़ा पहनते हैं और पशुओं की चर्बी से दिए जलाते हैं।

आततायी के विरुद्ध संग्राम करने से ही पौरुष का पता चलता है। रामायण महाकाव्य की और देखो - यहाँ राम ने पत्नी का हरण करने वाले रावण के विरुद्ध हथियार लेकर आक्रमण किया था, प्रबलरूप में बलप्रयोग किया था ।इससे उनके कार्य अहिंसा के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं थे, क्योंकि उन्होंने लंका पर आक्रमण अत्याचार या विजय के उद्देश्य से नहीं किया था।

महाभारत को देखें। वहाँ, महापुरुष श्री कृष्ण ने पांडवों को कौरवों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष के लिए प्रोत्साहित किया क्योंकि कौरव भूमि हड़पने वाले आततायी थे।

धर्म और समाज के क्रांतिकारी नेताओं में से एक, प्रेमावतार श्रीमन महाप्रभु पर हिंसा की नीति अपनाने का आरोप लगाने का साहस कोई नहीं कर सकता। वे प्रेम के अवतार थे। उनपर तो हिंसा-नीति अपनाने का दोष लगाने का साहस कोई नहीं करेगा। पर वे भी अत्याचारी काजी पर सिंह के समान कूद पड़े थे। हिंसा और शक्ति-सम्प्रयोग यदि एक ही चीज होती तो करुणामय महाप्रभु निश्चय ही वैसा नहीं करते।

आततायी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करना ही पौरुष है और नहीं करना ही क्लीवता है। परन्तु कमजोर व्यक्तियों को अपने से बलवान आततायी से भिड़ने के पहले ही अपनी शक्ति की परीक्षा कर लेनी चाहिए। नहीं तो अपनी कमजोरी दूर किये बिना ही भिड़ जाने से उस समय तो अन्याय की ही जीत होती है। इतिहास में इस प्रकार की भूल को 'राजपूतों की, निर्बुद्धिता' (Rajput-folly) कहते हैं। मुगल आक्रनणों का सामना करने के लिए राजपूत हमेशा ही साहस के साथ आगे बढ़ते थे। उन्होंने वीरता के प्साथ लड़ाई की। इसमें सन्देह नहीं, किन्तु अपनी शक्ति की परीक्षा किये बिना ही वे लड़ाई में उतर जाते थे । उन लोगों में आपस में तरह-तरह के भेद; तथा भीतरी कम-जोरियाँ थी। इसलिए लड़ाई में वे हारते थे तथा वीरों की तरह मृत्यु का वरण करते थे।

इसलिए आततायी के विरुद्ध संग्राम करने के पहले उपयुक्त शक्ति का सञ्चय करना उचित है। आततायी का स्वभाव सुधारने के पहले ही उसे क्षमा करने का अर्थ है अन्याय को बढ़ावा देना। जहाँ देखो कि शक्ति का प्रयोग चाहे तुम न करो, आततायी तुम्हें नष्ट करेगा ही, उस समय शक्ति सञ्चय के लिये न ठहर कर अपनी पूरो ताकत से प्रहार करके ही मरना उचित है।

सत्य :- सत्य शब्द का अर्थ है "परतिहाथ वाङ्मनसो यथार्थत्वं सत्यम्" -अर्थात् दूसरे की भलाई के उद्देश्य से वाक्य और मन का जो यथार्थ प्रयोग है, उसी का नाम है सत्य । याद रखना चाहिये कि सत्य शब्द के लिए अंग्रेजी में कोई शब्द बहीं है। अंग्रेजी में जिसको True या Truth कहते हैं, संस्कृत में उसे ऋत

कहते हैं। साधक को ऋत का पालन करने के लिए नहीं कहा जाता है। सत्य का अनुसरण करने के लिए कहा जाता है। सत्य के व्यवहारिक अंश का आधार है आपेक्षिकता । परन्तु इसकी ठीक-ठोक प्रतिष्ठा होती है, उस परमब्रह्म परमाध्धिक तत्व में। इसलिए ब्रह्म को सत्य-स्वरूप कहा जाता है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यद्यपि साधक का लक्ष्य वही पारमार्थिक तत्व है, किन्तु उसे साधक जीवन में सदा आपेक्षिकता लेकर कारबार करना पड़ता है। मनुष्य विचार करनेवाला जीव है, इसलिए जहाँ जैसा करना उचित है अथवा जैसा करने से मनुष्य का कल्याण हो, वैसा करने का सामर्थ्य कुछ न कुछ हर मनुष्य में है। साधना-जगत में वैसा ही कुछ करने, बोलने जा विचार करने को सत्य कहा जाता है।

मान लो, कोई मनुष्य डर से दौड़ता हुआ तुम्हारे पास आया। वह दोषी है या निर्दोष, तुम्हें नहीं मालूम या तुम जानते हो कि वह निर्दोष है। उसको दण्ड देने के लिए एक भयानक शक्तिशाली मनुष्य आता है। डरा हुआ आदमी तुम्हारे घर में छिपे और वह भयानक स्वभाव का मनुष्य तुम्हारे पाम आकर पूछे कि अमुक आदमी कहाँ गया है- उस समय तुम क्या करोगे ? ऋत (Truth) को मानने से तो वहाँ तुम कहोगे, कि देखो उस जगह वह श्विपा हुआ है। इसके बाद अगर वह भयानक प्रकृति का मनुष्य उसकी हत्या करे, तो क्या तुम भी उम हत्याकाण्ड में हिस्सेदार नहीं ठहरते हो ? तुम्हारी भूल से ही सम्भव है एक निरपराध मनुष्य मारा गया । ऋत (Truth) को मानने से तुम हत्या के अपराधी हुए, किन्तु सत्य शब्द का शास्त्रीय अर्थ मानने से यहाँ तुम्हारा कर्त्तव्य क्या होगा ?

तुम्हारा कर्तव्य है उस मनुष्य का फ्ता न देकर उसकी भलाई के लिए आक्रमणकारी को उल्टा रास्ता दिखा देना, जिससे आश्रित मनुष्य निर्भय होकर सुरक्षित स्थान को लौट जा सके ।

मान लो, तुम्हारी माँ खाने बैठी है। चिट्ठो आई कि तुम्हारे मातामह की मृत्यु हो गई है। चिट्ठी के विषय में यदि माँ पूछे तो तुम क्या कहोगे ? यदि ऋत को मानो तो माँ को उनके पिता जी की मृत्यु का गहरा धक्का तो लगेगा ही, साथ ही उनका भोजन भी नष्ट होगा। यहाँ तुम्हारे लिए तो यही अच्छा होगा कि तुम कह दो कि ननिहाल में सब लोग कुशल से हैं। माताजी जब भोजन कर लें तब पहले मातामह की बीमारी की बात सुनाकर उनके मन की शोक की बात सुनने के

लिए कुछ हद तक तैयार कर लो, उसके बाद मातामह के मरने की बात बताओ इसमें पहले तो बहुत-सी झूठी बातें अपनानी पड़ी; किन्तु इसके फलस्वरूप सत्य का ही पालन हुआ ।

वृहत् का आकर्षण और साधना

गत गोरखपुर महाचक्र में मैंने कहा था कि जैवो प्राति के लिए तीन अपरिहार्य तत्व हैं- (1) जड़-संघात (2) भाव-संवात, तथा (3) वृहत का आकर्षण ।

तुम जानते हो, जभी संघात या संघर्ष उत्पन्न होता है तभी संषित वस्तु समूह को सूक्ष्मता प्राप्त होती है। यह बात जितना जड़-संघात के लिए सत्य है, भाव-

संघात के लिए भी ठीक उतना ही सत्य है। संघर्ष के फल से जड़ता जितना अधिक सूक्ष्मत्व पाती रहती है, उतना ही अधिक उसके अन्दर आध्यात्मिक भाव जगता रहता है, उतना ही अधिक उसे हमलोग प्रगतिशील कहते रहते हैं। चर्याचयं में निश्चित रूप से है-

"तुलो धुनि धुनि आँसुरे आँसु
आँसु धनि धूनि नीखर सेसू ।"

जड़ संघात के फलस्वरूप रुई सुनते धुनते अन्ततः वह रेशों में परिणत होती 'है, और अधिकतर जड़ संघात के फलस्वरूप, अर्थात् रेशों को भी यदि धुना जाए तब अन्ततः वह अपने सूक्ष्मत्व लाभ से, दृष्टि से अगोचर में चला जाता है। महाशक्ति के लीला प्रपञ्च में

जड़-संघात के फल से जड़ मन में रूपान्तरित होता हैं, और मन आत्मस्वरूपत्व प्राप्त करता है ।

(1) प्रतिसञ्चर क्रिया के आरम्भ में केवल जड़-संघ त ही रहता है और जड़-संघात की अतिक्रियता से मन उदभूत होता है, जो मन वहमानता प्राणक्रिया के द्‌वारा जड़ से संयुक्त रहता है। इसलिए हमलोग देखते हैं कि इस परिदृश्यमान जगत् में सृष्टि का प्रारम्भिक कारण ही है जड़-संघात और इसके फलस्वरूप अचेतन वस्तु से चेतन वस्तु जन्मलाभ करता है।

अवस्तु बोलने से आत्मा, महतत्व तथा अहं तत्व, इन तीनों को बताने से भी सूक्ष्म विचार से एकमात्र निर्गुण ब्रह्म ही अवस्तु पदवाच्य हैं। संघात जड़वस्तु को

ही मानसवस्तु में और मानसत्रस्तु को इस अवस्तु में रूपान्तरित कर देता है। भूमामानस का कर्मभाव जभी वस्तु से अवस्तु में रूपान्तरित होता है, तब वह और कर्मभाव नहीं रहता है, वह तब भूमा के कतृ भाव का अथवा अकर्ताभाव का स्थान लाभ करता है। आपात दृष्टि से अणुमानस का उद्‌भव जड़ से होने पर भी पारमाथिक विचार से अणुमानस का उद्‌भव भूमामानस से ही है। कारण आपात दृष्टि से जिस जड़ से उसकी सृष्टि हुई है, वह जड़ भी भूमामानस के स्थूल तरङ्ग को छोड़ और कुछ नहीं है, और आपात दृष्टि में हम जिसे जड़ संघात बोलते हैं, भूमा की दृष्टि में वह भूमा का प्रत्यक्ष भाव-संघात है या अणु के माध्यम से सृष्ट भूमा का परोक्ष भाव-संघात है। इसलिए, तथाकथित जड़संघात जब पुरुष-भाव की निकटता पा भूमामानस के प्रत्यक्ष भाव-संघात के द्‌वारा अधिकतर

अभिभूत हो जाता है, जड़ वस्तु की उसी अवस्था का नाम है, चेतन वस्तु । और इस चेतन वस्तु के भूमा के प्रत्यक्ष तरंग द्वारा और अधिक अभिभूत हो जाने से, तब उसी चेतन वस्तु को बोल सकते हैं मानव-मन। लौकिक जड़-संघात, लोकिक भाव-संघात और पारमाथिक भाव-संघात - तीनों के प्रभाव में पड़ जो मानव मन सृष्ट होता है, उसके लिए जो उपयुक्त आधार भूमातरङ्ग तथाकथित प्रपञ्च से निर्वाचन कर देता है, उस आधार को ही कहते हैं मानवीय आधार या मानव देह ।

तब हम देखते हैं कि मानवीय आधार तथा उन्नत त्रेतन वस्तुसमूह में जड़-सघात और भाव-संघात दोनों ही हैं। दोनों के फल से वे क्रमशः प्रगति के पथ पर चलते रहते हैं। किन्तु अचेतन वस्तु समूह

(Inanimate objects) में है केवल जड़-संघात, कारण वस्तु-मन की उद्भूति के पहले लौकिक भाव-संघात उद्भव होना सम्भव नहीं है ।

मनुष्य के दैनन्दिन जोवन में हमलोग दोनों संघात देखते रहते हैं। दोनों हमें आगे बढ़ने में सहायता करते है। किन्तु ऐसा होने पर भी मनुष्य जाति को हमलोग साधारणतः दो भागों में विभक्त देखते है, अन्ततः अब भी देख रहे हैं। एक प्रकार के मनुष्य हैं जो केवल भाव-संघात का ही आह्वान करते हैं, और द्वितीय श्रेणी के मनुष्य है, जो केवल जड़-संघात में ही लिप्त होना चाहते हैं। प्रथम श्रेणी को बोल सकते हैं भाववादी, द्वितीय श्रेणी को भोगवादी (Materialist) (जड़वादी शब्द स्वेच्छा से व्यवहार नहीं किया)। इस विषय में एक बात याद रखना आवश्यक है कि भाववादी

और भोगवादी- दोनों ही साधक हैं, अन्तर केवल लक्ष्य का है। थोड़ा सूक्ष्मभाव से विचार करने से देखा जा सकता है कि जगत् में इनके दोनों पक्ष ही मानव-समाज की क्षति करते रहते हैं। मनुष्य को दोनों के बीच से आगे बढ़ना होगा, एक सामञ्जस्य रख कर, भाव को लक्ष्य बना जड़ के संघर्ष के मध्य हो कर। लौकिक विवार से सञ्चर काल में केवल एक प्रकार का जड़-संघात है। किन्तु प्रतिसञ्चर काल में जड़-स घात, भाव-संघात और वृहत का आकर्षण - तीनों हैं। ये जो संघात हैं-किसके साथ किसका संघात है ? वस्तुतः जड़-संघात या भाव-संघात, जो भी नाम क्यों न लें, संघात असल में दो मूल। शक्तियों के बीच है- एक विद्या, दूसरी अविद्या, एक ऋणात्मिका, दूसरी धनात्मिका। सञ्चर काल में ऋणात्मिका शक्ति, विद्या का परिमाप यदि ४० माना जाए और धनात्मिका अविद्या का यदि ६० माना

जाए, तब परिमाण रहता है २० धनात्मिका-अविद्या, अर्थात सञ्चरकालीन परिणामभूता शक्ति २० धनात्मिका । सृष्टिलीला के क्रमानुसार में सञ्चरकालीन चित्ताण, पुरुषोत्तम भाव से दूर जाता रहता है और इसका कारण है यह २० (मान लिया जाए) धनात्मिका अविद्य शक्ति । ठीक उसी प्रकार प्रतिसञ्चरकाल में ऋणात्मिका विद्या को यदि ६० मान लें धनात्मिका अविद्या को यदि ४० मान लें, उस दणा में परिणाम-भूता ऋणात्मिका विद्या का परिमाप होता है २०, अर्थात् चित्ताणु क्रमशः पुरुषोत्तम भाव की ओर, अर्थात् अवस्तु भाव की ओर आगे बढ़ता रहता है। विराट का चित्ताण, लौकिक जगत में जड़ाणरूप में ही प्रतीयमान होता है, और यह जड़ाणु का अवस्त की ओर प्रत्यागमन ही, जड़-संघात, भाव-संघात और वृहत् के आकर्षण के द्वारा संसाधित होता है ।

तब हम देखते हैं कि जड़-संघात को उत्साह देना हो साधना है। इस साधना को बोला जाता है कर्मयोग। इसलिए इस कर्मयोग में मनुष्य को केवल जड़वस्तु-समूह को लेकर ही साधना किया जाता है, जैसे जीव सेवा, जगत्सेवा और जड़-विज्ञान की चर्चा (scientific researeh) । जड़-संघात के द्वारा वस्तु का आन्त-परिमाणविक दूरत्व बढ़ जाता है। इसके फल से स्थल जड़सत्ता मन में रूपान्तरित हो जाता है। जड़ का यह जो मन में रूपान्तरण है, यह उसी २० (मान लो) ऋणात्मिका शक्ति के साहाय्य से होता रहता है, और इसलिए रूपान्तरण कार्य में मनुष्य की या जड़ विज्ञान की जितनी भी शक्ति क्यों न प्रयुक्त हो, वे कभी भी उस २० को (मान लें) दवा नहीं सकतीं है। जिन सभी मनुष्यों ने कर्मयोग या जड़-संघात के पथ को ही चुन

लिया है, उनके प्रतिसञ्चरकालीन परिणामभूता शक्ति प्रायः पूरी-पूरी जड़ के कार्य में व्यस्त रहती है, इसलिए उनके मन में ज्ञान का स्थान उतना विशेष नहीं रहता है, किन्तु भक्ति का स्थान अवश्य ही रहता है, कारण जिस परिणामभूता विद्याशक्ति के सहाय्य से जड़-संघात हो चला है, उस विद्याशक्ति का लक्ष्य पुरुषोत्तम जो हैं। इसलिए जो विद्या के श्रोत की ओर चला है, वह अवश्य ही ब्रह्मभाव की ओर चला है, और इस ब्रह्मभाव की ओर चलने को या पुरुषोत्तम के आकर्षण से आकृष्ट होने को भक्ति को आख्या अवश्य दे सकते हैं। संघात के फल से ही बोध जग उठता है। केवल जड़-सघात से ही जो बोध जगता है, वह बोब जड़ में ही लिप्त हुआ। रहता है, इसलिए उस बोध को जड़-बुद्धि बोल सकते हैं। पशुसमाज तथा अनग्रसर मनुष्य समाज में, इस जड़-बुद्धि का ही प्रभाव देखा जाता है। यहाँ तक कि

प्राग्रसर मनु य समाज में भी जो निरीश्वरवादी या भोगवादी हैं, उनकी बुद्धि को भी जड़बुद्धि छोड़ और कुछ की अख्या नहीं दे सकते हैं। ये भोगवादी अपनी बुद्धिगत दीनता को छिपाने के लिए ही अध्यात्मवाद को अस्वीकार करना चाहते हैं। यह अस्वीकृति उनकी दीनता का ही प्रतीक है। इससे उनक। गौरव नहीं बढ़ता है। इससे अध्यात्मवाद की मर्यादा भी नहीं घटती है।

संघात में भक्ति का भी स्थान है। भूमः-मानस में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं, उनके अन्दर यदि कोई सामञ्जस्य विधायकी शक्ति कार्य नहीं करती, तो विश्वब्रह्माण्ड की यह संरचना चूर-चूर हो जाती। विश्वब्रह्माण्ड की संरचना को ठीक तरह रखने के लिए ही, प्रत्येक वस्तु के अन्दर पारस्परिक आकर्षण है, प्रत्येक अणु एक दूसरे को आकर्षित कर रहे हैं। वृहत प्रेम के द्वारा उन्होंने प्रत्येक अणुसत्ता को अपने साथ

बांध रखा है। जो वृहत् प्रेम की तरङ्ग में उनका रससमुद्र बह रहा है, उसीकाक्षुद्र-विकाश अणु भी जन्मगत सूत्र से उस प्रेम के अधिकारी हुए हैं। इसलिए आकर्षण जीव का स्वाभाविक धर्म है। जीव का यह आकर्षण जब क्षुद्र सत्ता में सीमित रहता है, तभी उसे काम कहते है और जब वृहत् सत्ता को ओर दौड़ जाता है, तब उसे कहते हैं प्रम । यह बात अवश्य स्वीकार करना होगा कि काम प्रेम का ही क्षुद्रतर रूप है। प्रेम के आकर्षण से जब जीव वृहत् की ओर दौड़ जाता है, तब इस दौड़ जाने का ही नाम भक्ति है। इसलिए मैंने कहा था कि संघात से जब जीव का सूक्ष्मत्व की ओर जाना सम्भव है, तब संघात अवश्य ही भक्ति का परिपोषक है।

भोगवादी कामसाधना में ही रत रहते हैं। वे जातिवाद (castism), राष्ट्रीयतावाद (nationalism), साम्प्रदायिकतावाद प्रभृति को लेकर ही व्यस्त रहते हैं। वे एक विशेष समाज, विशेष राष्ट्र, एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों को ही प्यार करते हैं। अन्य समाज, अन्य राष्ट्र, या अन्य सम्प्रदाय के लोगों के प्रति विष्फोद्गार करने में, उनका विवेक बघा नहीं देता है। तब यह निश्चय समझते हो कि जातिभक्ति, समाजभक्ति या देशभक्ति जैसी बातों में खण्डप्रम या काम है। इस प्रकार के सीमित प्रेम को भक्ति की आख्या नहीं देना ही सङ्गत है। जो सचमुचभक्त हैं, वे विश्व की प्रत्येक सत्ता को समानरूप से प्यार करेंगे। भोगीवादी विश्व प्रेम का जो अभिनय करते है, असल में वह पराश्वा पहरण (चोरी) का फन्दा छोड़ और कुछ नहीं हैं।

(2) द्वितीय तथ्य है struggle in intellectual plane - भाव-संघात । इस संघात में मनुष्य सम्पूर्णरूप से मानसिक तृप्ति (देह सम्पकित नहीं) के लिए कार्य करता जाता है। जागतिक स्थूलभोग्य वस्तु वह नहीं चाहता है। वह मानसिक वस्तु चाहता है-नाम-यश प.ने की आशा में वह कार्य करता जाता है। इसलिए शुद्ध भाव-संघात सम्भवतः जड़-सघात से सूक्ष्म चीज है, किन्तु इससे भी मनुष्य जाति का कितना कल्याण हो सकता है ? शिक्षित तथा बुद्धिमान लोगों को भी देखते रहते हैं कि रुपए का लाभ नहीं रहने पर भी नाम-यश के लोभ से अन्य के अंति रातदिन कईम निक्षेप करते रहते हैं। इस प्रकार का भाव-संघात क्या मनुष्य के कणिका में प्राउट अन को सूक्ष्मत्व की ओर ले जा सकता है? संघात या संघर्ष के फल से मन के अण के

चूर्णीकृत होने से भी, जैसे एक तरफ मन की व्यापकता आती है, उसी तरह -दूसरी तरफ लोभ रिपु के अधीन रह जाने के कारण धीरे-धीरे मन जड़त्व की ओर, अर्थात् ऋणात्मक प्रतिसञ्चर के पथ पर ही, चलता रहता है।

(3) जड़-संघात और भाव-संघात की प्रयोजनीयता को अस्वीकार नहीं कर, अथवा दूसरे शब्दों में जड़-संघात और भावसंघात को उत्साह देकर ही, चलना होगा, किन्तु देखना होगा कि हमारा 'बृहत्' का लक्ष्य भ्रष्ट नहीं हो। इस प्रकार चलत रहने से जिनके मन में सूक्ष्मत्व तथा व्यापकत्व अजित होंगे, वे सुद्र भावना से अपरामृष्ट, ही रहेंगे। मानसाणु (चित्तणु) चूर्णीकृत होते रहेंगे और - साधनाग्नि में वही चूर्णीभूत चित्ताण अद्वैततत्व की स्थिति लाभ करेंगे। इसलिए जड़-सघात या भाव-संघात तथा वृहत के आकर्षण में ही परम चरितार्थत। लःप्र कर

सकते हैं। वृहत के आकर्षण के व्यतिरेक जीवन रस में कोई माधुर्य नहीं रहता है।

यह उस सूक्ष्मत्व की ओर बढ़ता रहे, तो मन मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र है। यदि वह स्थूलतत्त्व की ओर पीछे हटे, तो मन मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। भाव-संघात से हो मनुष्य वर्तमान समय में अणुबम बना सका है। बनाया है भोगवादा भावना को लेकर । इसलिए उसका परिणाम भयङ्कररूप में दिखाई पड़ा है। जैसा मन का ध्येय होगा, उसी प्रकार की मन की संरचना भी होती रहेगी। मानस विषय यदि-जड़ हो, तो उसकी भावना से मन के भी आन्तराणविक दूरत्व कम हो, मन भो क्रमशः जड़ होता रहेगा, और अन्त में ध्येय विषय को छोड़ और कुछ भी वह मानना नहीं चाहेगा। इसलिए हमलोग देखते रहते हैं कि जड़ाश्रीवाद के समर्थक दूसरे

को युक्तिपूर्ण बात को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो जाते हैं और अपने युक्तिहीन आचार-अनुष्ठान को आँख - कान बन्द कर, पकड़ कर रखना चाहते हैं। जड़ की भावना से संवेदन-सामर्थ्य भी धीरे धीरे नष्ट होने के लिए वाध्य होता है। इम प्रकार देखने से वीस (२०) ऋणात्मिका शक्ति का प्रयोजन उसके पास क्रमशः शेष होने लगता है। वह बोलता रहता है कि इतनी सब सूक्ष्म बातें मुझे जानकर हो क्या लाभ मिलेगा- सोचकर ही क्या लाभ मिलेगा ? अच्छी तरह तो हूँ। इस प्रकार के मनुध्य को जड़ को भावना बारंबार जड़ देह धारण करने के लिए बाङ्य करती है।

जहाँ ध्येय परमात्मा हैं वहीं जीव की निरंकुश प्रगति होती रहती है। विषय सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण मन भी क्रमशः सूक्ष्म और व्यापक होता रहता है,

और शेष पर्यन्त वह निखिल मानस (Macrocosm) में पर्यवसित हो जाता है। आव-संघात काल या प्रतिसञ्वर काल में यदि मान लें कि जीव बीस (२० माना जाय) ऋणात्मिका शक्ति की सहायता से आगे बढ़े, तो वृहत् की भावना लेने के कारण, इस प्रतिसञ्चरात्मिका गतिप्रवाह की तुलना में उसका गतिप्रवाह क्या बढ़ नहीं जाएगा ? हाँ, बढ़ जाता है, और इसको ही कहते हैं वृहत् का आकर्षण । जिसा मानसिक मस्तिष्क तथा स्नायुपुञ्ज ने जिस २० (बीस) ऋणात्मिका गतिप्रवाह को (मान लिया) स्वाभाविक रूप में मान लिया था, उसके लिए तब ताल-मेल लगाने म कुछ असुबिधा होती है। इसलिए बहुत बार देखा जाता है कि साधक में अश्रु पुलक-नर्तनादि-स्पान्दनिक लक्षण प्रकट होते रहते हैं। ये सब और कुछ नहीं है, वृहत् के आकर्षण के परिणाम मात्र हैं। जो सभी साधक इस द्रुततर गति से समाचोलन

करने में समर्थ हैं, उनके भीतर इस प्रकार के लक्षण प्रकट नहीं होते हैं।

वृहत के आकर्षण से जो यह चलता है, वही भक्ति है। कारण यह चलना वृहत की पूजा से ही सम्भव होता है। भक्ति जड़-संघात में भी रह सकती है, किन्तु जड़-संघात की भक्ति तामसिक भक्ति है। भक्ति भाव-संघात में भी रह सकती है, किन्तु भाव-संघात की भक्ति राजसिक भक्ति है। वस्तुतः इस भाव-संघातवादीभक्त के साथ नैतिकतावादीभक्त का अन्तर अति सामान्य है। ये नैतिकतावादी या भाव-सं घातवादी सात्विकी भक्ति का स्वाद नहीं पाते है; क्योंकि उनके मन में बृहत् की भावना नहीं रहती है, वे क्षुद्र भावना लेकर एक प्रकार का व्यावसायिक प्रयास करते हैं। वृहत् की भावना ही सच्ची शान्ति का एकमात्र पथः है। वृहत्

का आकर्षण ही एकमात्र प्रेमपदवाच्य है। वे सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। किसी को नहीं भूले हैं, और न भूल कर रह ही सकते हैं। किन्तु लोग अभियोग करते है कि परमात्मा सम्भवतः उन्हें भूल गए हैं। किन्तु इस तरह की बात बोलना भी अन्याय नहीं है क्या? क्योंकि कोई भी जीव ब्रह्मचक्र के बाहर नहीं है। वे सभी को प्रेम के डोर से आकर्षित कर रहे हैं। यह प्रेम का सूत्र कभी सुखदायर्क मालूम पड़ता है, और कभी दुःखदायक मालूम पड़ता है। कभी वे ले आते सुख.. कभी ले आते दुख । किन्तु आते तो वही हैं, और तुम्हारे पास ही तो आते हैं। तुम्हें दुःख-सुख के ऊपर और किसी लोक में तो उन्होंने रक्खा नहीं। और यदि कभी देखो कि तुम दुःख-सुख के ऊपर और किसी लोक में चले गए हो, तो देखोगे कि तुममें और तुम नहीं हो- तुम्हारा तुम खो गया है। इसलिए सच्चे साधक सुख के

समय व हेंगे- हे प्रभु, तुम धन्य हो; क्योंकि मेरे जैसे अभागा को तुमने जरा भी नहीं भुड़ाया। दुःख के समय कहेंगे- हे प्रभु, तुम धन्य हो क्यों कि और कोई आएं या नहीं, तुम दुःख का रूप लेकर भो मेरे पास आए हो। न्यायकर्ता के न्याय से निर्दोष व्यक्ति जब रेहाइ पाता है तब उसे बोलना उचित है- 'हे प्रभु ! तुम धन्य हो, तुमने मुझे परित्राण दिया।' जब दोषी को सजा मिले, उसे भी बोलना उचित है- 'हे प्रभु। तुम धन्य हो; क्योंकि मेरे दोषों को तुमने कठोरता से जड़-संघात तथा भाव-संघात के द्वारा मुझे समझा दिया। और विचारक को भी बोलना उचित है- 'हे प्रभु ! मेरे माध्यम से तुमने न्यायाधिकारी का कार्यकर मुझे धन्य किया ।

परमात्मा के बिधान में प्रतिसञ्चर में ऋणात्मिका शक्ति का परिमाण यदि ६० मानलें, और धनात्मिका ४०

मानलें, तब परिणामभूता ऋणात्मिका रहती है २०। इस बीस ऋणात्मिका या विद्यामाया के द्वारा ही वे जीव को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। जीव यदि इस विद्यामाया में सम्पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण करे तव अनन्तकाल में उसके लिए ब्रह्मप्राप्ति सम्भव है। किन्तु व्यष्टि यदि अपने जीवन में साध्ना द्वारा ऋणात्मिका की अपेक्षा धनात्मिका को बढ़ा सके, अविद्या की अपेक्षा विद्या को प्रवलकर दे, उस दशा में ब्रह्म की परिणामभूता विद्या के साथ, उसकी परिणामभूता विद्या संयुक्त हो उसकी गति त्वरान्वित कर देती है। व्यष्टि जीवन में विद्या की यह साघना ही सगुण की साधना है, परन्तु व्यष्टि जीवन में यदि अविद्या का अनुशीलन किया जाए तो वृहत् की परिणामभूता विद्या के विरुद्ध जाना होगा। वृहत् की इच्छा के विरुद्ध जाने की इस प्रचेष्टा का फल किसी तरह अच्छा नहीं हो सकता है।

सूचीपत्र

इसका ही नाम है महती विनष्टि । इसलिए सगुण साधना के काल विद्या प्रकृति को उत्साह देना ही पड़ेगा।

"सा विद्या या विमुक्तये ।"

विद्या उसे ही कहते हैं जो मुक्ति का कारण है। अव प्रश्न उठता है कि जीव कितनी शक्ति को लेकर अग्रसर हो सकता है? मनुष्य जब तक परिणामभूता ऋणात्मिका शक्ति के प्रभाव से आगे बढ़ता है, तब तक ही उसे सात्वकी भक्ति का साधक बोल सकते हैं, अर्थात् परिणामभूता शक्ति-तरंग ही प्रतिसञ्चर काल में सात्विकी भक्ति का तरंग है। इसमें साधक की एक ही कामना रहती है, और वह है मुक्ति-कामना। और जब

वह अपने को कलुष मुक्त कर, सम्पूर्ण ऋणात्मिका शक्ति की सहायता ले पुरुषोत्तम के साथ मिलकर एक हो जाता है, तब उसकी भक्ति जिस गति से आगे बढ़ी थी, उसे कहते हैं रागात्मिका भक्ति। उस साधना में वह मुक्ति भी नहीं चाहता है, तब उस की इच्छा रहती है- "मैं तुम्हें चाहता हूँ।" इस प्रकार के साधक में परिणामभूता २० (मान लो), ऋणात्मिका मूलीभूता ६० (मान लो), ऋणात्मिका (रागात्मिका) में परिणत होती है।

जन्म-जन्मान्तर की सुकृति के फल से, जन्म-जन्मान्तर कर्म ज्ञान की तपस्या कर अन्त में भक्ति का उदय होता है। इसलिए अज्ञ प्राकृत जनों में भी रागात्मिका भक्ति का उदय होते देखा जाता है। पर सर्वशास्त्रों में सुपण्डित भी मूर्ख की भाँति यह देखते

रहते हैं। भक्ति साधना में जब साधक आगे बढ़ा है, किन्तु परिणामभूता ऋणात्मिका मूल रागात्मिका को शक्ति अर्जन नहीं कर सकी, यत्तवान इस साधक की उस भक्ति का नाम है रागानुगा भक्ति ।

जड़-संघात में अन्यान्य विकाण गौणभाव से होता है, जड़ का विकाश होता है मुख्य भाव से । भाव-संघात में अन्यान्य विकाश गौणभाव से होता है, बौद्धिक विकाश (Intelicetual Progress) होता है मुख्य भाव से । वृहत् के आकर्षण से आत्मा का विकाश होता है मुख्य भाव से, और साथ-साथ होता रहता है जड़ात्मक विकाश के साथ बोद्धिक विकाश, और बौद्धिक विकाश के साथ आत्मिक विकाश का सन्तुलन ।

जहाँ वृहत के आकर्षण में सर्वस्व दान की साधना छोड़ और कुछ भी नहीं है, वहाँ उस चरम दान की साधना को कहा जाता है केवला भक्ति, और जिन्हें सब कुछ दिया गया वे हैं तारकब्रह्म ।

(रामनगर, भाद्र पूर्णिमा १९५८)

अभिप्रकाश और प्रतीकीकरण

आज का आलोच्य विषय है अभिप्रकाश और प्रतीकीकरण (Expression & Symbolisstion) इस व्यक्त जगत् में जो भी हो रहा है या जो कुछ भी देशिक-कालिक और पात्रिक लक्षणों के अन्दर आता है, वहीं

सूचीपत्र

मनुष्य या जीव प्रतीकीकरण (Symbolisation) की सहायता लेता है। प्रतीकीकरण न होने पर व्यक्तिकरण सम्भव नहीं। यह तत्व पाञ्चभौतिक जगत् में जितना सत्य है, उतना ही सत्य मानसिक जगत् में भी है। वहाँ उसे प्रतीकीकरण की परिधि के अन्दर काम करके चलना होता है। और जहाँ उसके द्वारा प्रतीकीकरण सम्भव नहीं, तब उसे अबोधगम्य कहा जाता है (Inexplicable)।

वस्तुतः इसे अबोधगम्य न कह कर कहना उचित है कि प्रतीकीकरण होना सम्भव नहीं ।

यह विश्वब्रह्माण्ड क्या है? यह विवित्र तरंगमाला का समष्टिमात्र है। केवल मनुष्य का ही नहीं

समस्त जीवों को ज्ञानेन्द्रियों का सामथ्यं अत्यन्त सीमित है। दृन्द्रियाँ एक विशेष रूप में एक विशेष प्रकार की तरंगों को ग्रहण कर सकती हैं। किन्तु स्थूल या सूक्ष्म किसी प्रकार की तरंग को ग्रहण करने की क्षमता उसमें नहीं है। इन्द्रियाँ अपनी अपनी सीमित शक्ति को ले कर काम करती हैं। अर्थात विश्व-ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियाँ हैं, उनका एक सौभाग्य तो नहीं- उससे भी मनथ्य अनेक कर्म इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं कर सकता अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड में जितनी तरंगमालाएँ तरंगायित हो रही हैं, वे सब मनु य के ग्रहण सामर्थ्य के बाहर हैं। कहा जा सकता है कि अव्यक्त ब्रह्माण्ड रूपी समुद्र में, यह व्यक्त ब्रह्माण्ड एक बहुत ही छोटे द्वीप के समान है। जब यह व्यक्त जगत अपने में एक छोटा सा द्वीप है तो मनुष्य का सामर्थ्य भी उससे बहुत बहुत क्षूद है। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी घट

रहा है, उसवा बहुत कम ही मनुष्य के जानने की परिधि में आ आता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कितनी कम शक्ति और बुद्धि को ले कर मनुष्य या अन्य जीवों को काम करना पड़ता है और इतनी क्षुद्र बुद्धि और शक्ति होने पर भी मनुष्य अहङ्कार के चूडा पर अवस्थित हो बैठता है। कौनसी, परन्तु किस प्रकार की है; यह पूरी तरह समझना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है; क्योंकि जीव की ग्राह्य शक्ति बहुत थोडी है। तुम्हारी ही आँखों के सामने इस पाञ्चभौतिक जगत में बहुत कुछ घटता रहता है, पर तुम्हारी दृष्टिशक्ति उसे देखने की क्षमता नहीं रखती। जिसे तुम अपने सामने देख समझते हो कि बहुत बड़ी चीज है - वह परमपुरुष के विकास का एक क्षुद्रांश है। इस प्रकार परमपुरुष का व्यक्तिकरण कितना विशाल है ! क्यों कि उनके एक छोटे अंश में ही कितनी विशालता देख सकते हो ! तुम

सूचीपत्र

इस मनुष्योचित सामान्य अनुभव शक्ति को ले कर परमपुरुष को कितना समझ सकोगे ? जब भावों के अधीन सत्ता के सम्वन्ध में ही ऐसा हो सकता है, तब भावों के अतीत की सत्ता उस परमपुरुष के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है ? वायु में, जल में, चारों दिशाओं में कितने पदार्थ है, जिन्हें तुम जानते ही नहीं। क्योंकि तुममें जानने का सामर्थ्य ही नहीं है। किसी किसी जीव में एक विशेष प्रकार की तरंग को ग्रहण करने की क्षमता अधिक होती है। यह विशेष जन्तु हो सकता है कि केवल उसी तरङ्ग को ग्रहण करने में सक्षम है। हम जिस वस्तु को दृष्टि शक्ति के द्‍वारा देख सकते है, हमें समझना होगा कि वह हमारे ग्रहण सामथ्र्यं के अन्दर है। उस अभिप्रकाश के तरङ्ग के आने से पहले ही उसकी सूक्ष्म तरङ्ग पहले ही आ जाती है, जिसे मनुष्य ग्रहण नही कर पाता। परन्तु कुछ जीव

जन्तु ऐसे होते हैं जो उस तरङ्ग को ग्रहण कर लेते हैं। वे सब जन्तु पहले से ही समझ लेते हैं कि कोई विशेष घटनाः घटने जा रही है। कोई कोई मनुष्य भी इस विशेष क्षमता के अधिकारी होते है। यह एक सूक्ष्म तरंग को ग्रहण करना मात्र है। इसे 'पूर्वाभास विज्ञान' या Science of Premonition कहा जाता है। यह शक्ति ताधना के द्वारा जित की जा सकती है। आँखों का काम है कुछ प्रकाश तरंगों के साथ सकित होना। उसे आँखें ग्रहण करने में समर्थ हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। तुम किसी ओर देख कर भी शायद किसी वस्तु को न देख सको। उसी तरह से तुम उन सब शब्दों के त'ङ्गों को नहीं सुन पाओगे, जो कि मनुष्य की सुनने की परिधि के बाहर है।

तुम्हारे चारों ओर कितनी भाषाओं की तर गे प्रवाहित हो रही हैं, जिन्हें तुम नहीं जानते । उसी तरह घ्राण, स्पर्श और आस्वादन शक्ति के क्षेत्र में भी हो रहा है। बाहरी जगत में जो तरङ्गमालाए प्रवाहित हो रही हैं, तुम्हारी इन्द्रियाँ उसके क्षुद्र भग्नांश के स स्पर्श में आती है और उसके बाद वह भावलोक में, तुन्हारे मन में, आत्मसात (assimilated हो जाती हैं। इस व्यक्तिकरण के बाहर जितनी तरङ्गमालाएं हैं उनका एक क्षुद्र भग्नांश तुम्हारे मन में आता है। क्योंकि यहाँ इन्द्रियाँ असमर्थ हैं। जब व्यक्तिकरण करोगे तब उसे कैसे करोगे ? व्यक्तिकरण करते समय भी उसे प्रतीकीकरण करना पड़ेगा। और प्रतीकीकरण करने में देरी हो जाने पर उसकी अनुभूति मन में ही रह जायगी- उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पायी। मान लो, एक अच्छे गवैया गाना गा रहे हैं। समस्त लोग उनकी स्वर तरङ्ग को

एक सा अनुभव नहीं कर पाते; क्योंकि सबकी ग्रहण करने की शक्ति एक सी नहीं होती। सगीत को उपलब्धि के लिए उसकी श्रवणेन्द्रिय को भी तैयार करना पड़ता है- तव उसके द्वारा व्यक्तिकरण सम्भव हो जाएगा। चेष्टा करने पर भी क्या मनुष्य उसे पा सकता है ? जैसा उसने सुना था- वह एकदम उसी तरह नहीं गा सकता। एक ही गाने को अनेक बार सुनने के बाद वह गाने के साथ स्वर मिलाकर ठीक उसी तरह से गाने की कोशिश करता है; क्योंकि वह बार बार यह याद करता है कि शायद वह एकदम वैसा नहीं गा पा रहा है; वह समझता है कि ठीक उसी तरह से प्रतीकीकरण नहीं हो पा रहा है। विश्वब्रह्माण्ड में जितने प्रकार की ध्वनियाँ हैं और वह जैसे सुनी जाती हैं, उन्हें ठीक उसी रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका क्या कारण है ?

क्या यह नहीं कि इनका प्रतीकीकरण ठीक प्रकार से नहीं हो सका ?

अब यह देखा जाया कि जितने प्रकार के 'राग' हैं इन्हें किस प्रकार से बाँटा जा सकता है। स्पान्दनिक गीतिकला के अनुसार हमने सुरसप्तक तैयार किया है। प्राच्य में इसे सुरसप्तक और पाश्चात्य में इसे सुर-आक्टेव या Octave कहा जाता है। इस सुरसप्तक का स्पन्दन मानव कष्ठ के अनुसार निर्धारित किया जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि सुदूर भविष्य में मनुष्य की सुनने की क्षमता एवं व्यक्त करने की क्षमता बढ़ जायगी। तब इसके द्वारा काम नहीं चल पाएगा और इसे बदलना पड़ेगा। इसकी परिधि को बढ़ा देना होगा। यदि मनुष्य इस पृथ्वी पर और लाख वर्षों तक टिका रहे तो एक दिन 'सुर आक्टेव' में परिवर्तन देखा जायगा ।

'कम्बिनेशन' और परम्युटेशन के द्वारा लोग हजारो राग रागिनियों को तैयार कर लेगें । युग की आवश्यकता के अनुसार हमारे स गीत में भी परिवर्तन हो जायगा ।

किसी मनुष्य ने एक गरम वस्तु का स्पर्श किया। छूते हो वह 'उह' कह उठा और उससे भी अधिक गर्म चीज को छूने के बाद भी 'उह' शब्द का प्रतीकीकरण किया। इन में प्रथम बार के 'उह' और दूसरी बार की आवाज एक सी नहीं। हो सकता है कि पहली बार अंगुली जल गई और दूसरो बार शायद पूरी शेष ही जल गयी। तुम्हारे व्यक्तिकरण का सामर्थ्य सीमित है। 'उह' 'आह' 'उफ' आदि दो चार शब्दों के द्वारा ही सब कुछ बताना पड़ता है।

हो सकता है कि तुम एक सुन्दर दृश्य देख रहे है। दृश्य जितना सुन्दर है उतनी तुम्हारी आँखें ग्रहण नहीं कर सकतीं। अब यदि तुम इसका भी व्यक्तिकरण करना चाहो, तब तुम जो अनुभव कर रहे हो या तुम्हारा मन जो ग्रहण कर सका है, उसका बहुत कम अंश हो, छवि को अङ्कित कर सकेगें । अर्थात् तुम्हारी कोई भी दृष्टि पूर्ण नहीं है। मन में सब समय एक अभाव रह ही जाता है- जैसा चाहा था एकदम वैसा तो हो ही नहीं पाया। चाहे कोई कितना बड़ा शिल्पी ही क्यों न हो, जैसा चाहेंगे वैसा ही तैयार नहीं कर पाएंगे। भाव व अभिव्यक्ति में व्यवधान रह ही जायगा। जो 'टेक्निशियन' होंगे वे उस अन्तर को भरने की चेष्टा करेंगे और प्रतिभाशाली (genious) उस अन्तर को छोटा करने का प्रयास करेंगे। किन्तु जिस तरह से प्रतिभावान व्यक्ति उस दूरत्व को कम नहीं कर सकते उसी तरह

टेक्निशियन भी अन्तर को दूर कर सकने में सक्षम नहीं हो सकते। किन्तु भाव या अभिव्यक्ति को दूर करने या समाप्त करने की जो चेष्टा चलती रहती है, उसकी बुनियाद सृष्टि का लक्षण है। यह लक्षण अवश्य ही मङ्गलकारक है। यह चेष्टा चलती ही रहेगी, परन्तु किसी दिन भी इसकी समाप्ति नहीं होगी। शिल्पी सदैव अपने टेक्निक के द्वारा इस व्यवधान को दूर करने के प्रयास में जुटा रहेगा। परन्तु व्यवधान कभी भी कम नहीं होगा ।

उसो तरह एक ही बात रूप, रस, गन्ध के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कहीं तुमने कोई बीभत्सता के चित्र को देखा पर उस चित्र को ठीक तरह से व्यक्त करने में असमर्थ हो। उसी तरह तुमने एक सुन्दर दृश्य देखा, तुम इसे भी पूर्णता से अभिव्यक्त

नहीं कर पाओगे। तुम्हारी अभिव्यक्ति तुम्हारे भावों के सफल निरूपण करने में सर्वदा असमर्थ रह जाती है। तुम्हारा प्रतीकीकरण वहीं तक सफल हो सकता है, जहाँ तक तुम्हारा अनुभव ज्ञान होता है। पर इपसे पूरा काम सम्भव नहीं हो सकता। इस व्यक्त जगत में सब भाव ही अपेक्षिकता के अन्दर हैं। प्रतीकीकरण की सीमावद्धता के कारण आपेक्षिक अभिव्यक्तियों का प्रकाशित होना इतना कठिन हो जाता है, तो असीम के सम्बन्ध में किसी अभिव्यक्ति की तो वात ही नहीं। इस विषय में तो कुछ सोचा ही नहीं जा सकता। यहाँ तक कि आपेक्षिकता के अन्दर जो भाव है, उसे व्यक्त करना सम्भव हो उठता है। इसी कारण प्रतीकी-करण करना असम्भव हो जाता है। जो चरम भाव है, उसका प्रतीकीकरण कैसे सम्भव हो पाएगा। यह तो असम्भव है, इसके सम्बन्ध में बाद में कहा जायगा ।

अब सापेक्षिकता के दायरे में जो प्रतीकीकरण सम्भव है, उसके विषय में ही आलोचना करूंगा। आपेक्षिक प्रतीकीकरण के क्षेत्र में तीन मूल तत्वों को समझ लेना होगा। जैसे प्रतीकीकरण किया जाता है, वह किसी भी दित पूर्ण नहीं हो सकता । जितनी आकांआए थी, वह पूर्ण नहीं हो सकी, द्वितीयतः प्रतीकीकरण कभी भी एक ही प्रकृति का नहीं होता। एक ही प्रकार की मनोवेदनी दो मनुष्यों को हो तो एक जन तो दुख से पागल हो सकता है और दूसरा थोड़ी देर को रोना धोना कर के चाय की खोज करेगा। इस प्रकार देखा जा सकता है कि भावों की अभिव्यक्ति समरूप या समान प्रतीकोकरण के रूप में कभी नहीं होती। इस का कारण है पात्रगत प्रभेद । किसी में आत्मस्थीकरण की क्षमता नहीं और किसी में वह शक्ति अधिक है। प्रतीकीकरण

की क्षमता भी किसी व्यष्टि में ज्यादा है और किसी में कम होती है।

जिसकी आत्मस्थीकरण की क्षमता जितनी अधिक है, वह उतना उन्नत है। अर्थात् जिसमें प्रतीकीकरण का सामर्थ्य जितना अधिक है, वह उतना ही सिद्धहस्थ शिल्पी (टेक्निशियन) है। यह याद रखना कि प्रतिभावान जन्मजात मेधा ले कर जन्मता है। और टेक्नेशियन कौन है ? वे शिल्पी साधारण बुद्धि सम्पन्न मनुष्य होते है-अपनी प्रचेष्टा साधना अध्यावसाय के द्वारा वे अपनी साधारण वृद्धि को असाधारण कर्मशैली में रूपायित कर देते हैं। शिल्पी बुद्धि व कर्मकुशलतासम्पन्न व्यष्टि होते हैं। शिल्पी व प्रतिभाशाली में यही मूल अन्तर है ।

पात्रगत प्रभेद के अनुसार कालगत प्रभेद भी है। दश हजार वर्ष पूर्व का मनुष्य दुःख-सुखों का जिस प्रकार से प्रतीकीकरण करता था, आज का मनुष्य वैसा नहीं करता । मान लो आज से दो तीन वर्ष पूर्व तुमने अपनी अजानता में किसी को कोई आघात पहुंचाया था। तब तुम क्या करते ? तुम साथ ही साथ उस व्यक्ति का हाथ पकड़ कर दुख प्रकट करने और आघात लगे उस स्थान की मलहम पट्‌टी कर देते और उसकी शुश्रूषा करते। और आज का मनुष्य यह सोचता है- 'ओ बड़ा दुख हुआ' कहने से हो अपना भार उतर जायगा । आजकल अभिव्यक्ति का तरीका ही बदल गया है। और साथ ही प्रतीक भी बदल गए हैं। क्योंकि पात्र व कालअनुसार परिवर्तन आया है। देश के परिप्रेक्ष्य में भी

परिवत्तंन आया है। उदाहरणतः किसी एक आदमी ने दूसरे आदमी को गोली से मार दिया। किसी देश में वह हत्यारा अपने आपको धिक्कारेगा और उस स्थान का त्याग कर देगा। और किसी देश में कोई हत्यारा गोली मारने के अपराधी होने पर भी सौना फुला कर कहेगा- वह आदमी मर गया है, इस कारण उसके प्रति समवेदना दिखाई जा रही है-नर मेरो बुलेट खर्च हो गई उसके प्रति समवेदना नहीं। "देखा न देश के परिवर्तन के साथ साथ प्रतीकीकरण में कैसा परिवत्तन आ गया। इस कारण से बता रहा था कि देश व काल के अनुसार प्रतीकीकरण भी एक जैसा नहीं होता ।

'अन्दर आओ' - यह किसी एक भाव का प्रतोकीकरण है। और उसी 'आइए' शब्द को दूसरी तरह

से बोलने पर एक और तरह का प्रतीकीकरण होता है। उसी तरह संस्कृत में आगच्छ शब्द से एक अन्य प्रकार का प्रतीकीकरण किया जा सकता है। इसी तरह 'Come in' को भी विभिन्न रूपों में कहा जा सकता है। जैसे कोई नम्र स्वर में कहता है 'Come in' और कोई हुकम देने के स्वर में कह सकता है 'Come in' ओर कोई साधारण तौर पर भी कह सकता है ।

तीसरा तत्व यह है कि प्रतीकीकरण कभी भी स्थायी नहीं हो सकता। इस में द्रुत परिवर्तन आ जाता है। आज से दो हजार वर्ष पूर्व मनुष्य पर्वत की कन्दराओं में रहता था। तब उसके भावप्रकाश पद्धति जैसो थी आज एकदम वैसी नहीं। इस में परिवर्तन आ गया है। इस रीति के परिवत्तन की धारा में शिल्पकला, स्थापत्य तथा मनुष्य की समस्त सूक्ष्म मानवीय संवेदन

की अभिव्यक्ति में परिवत्तन आता है और भविष्य में भी आएगा। अभिव्यक्ति का यही स्वभाव है। यदि कोई कहे, कि प्राचीन काल की रीति के अनुसार आज का साहित्य, शिल्प, कला इत्यादि रचित होगा, तो कहूंगा कि मूर्ख मनुष्य स्वर्ग में निवास करता है। उन सब मानवीय संवेदन की अभिव्यक्तियों को आज के युग के अनुरूप प्रकाशित करना होगा। जहाँ आपेक्षिकता का प्रश्न है, वहाँ भौतिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि मनो-लोक की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी प्रयोजनीय है। मनोलोक में भी तुम सब वस्तुओं का प्रतीकीकरण नहीं कर सकते हो। यदि मन में किसी भाव का प्रतीकी-करण कर के भी आँख, मुँह, पाँव या हाथों के द्‌वारा प्रतीकीकरण नहीं कर पाओगे । तुम कई वार यह स्वीकार करते हो कि बात को समझ सकता हूँ, पर उसे समझा नहीं सकता । चीनी मोठी है, रसगुल्ला भी मीठा

है, पर इन दोनों के मिठास का अन्तर नहीं कर पाओगे। तुम केवल इतना ही कह सकते हो कि यह इतना मीठा है और वह रसगुल्ला या आम की तरह मीठा है। तुम उसका अनुभव कर सकते हो, परन्तु उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाते। जैसे तुम अपने भावों का परिपूर्ण रूप में अभिब्यक्त करने में असमर्थ हो, उसी तरह यह बात आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सत्य है। जो भाव में आता है, उसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। आंशिक व्यक्तिकरण हो पाता है और ९९% अव्यक्त ही रह जाता है। परमपुरुष अर्थात् जो परम सत्ता हैं, उन्हें व्यक्त करना एकदम असम्भव है। अनुभूति हो रही है पर भावप्रकाश में असमर्थ है। ऐसी अवस्था में मन भी व्याकुल हो जाता है और उस अवस्था को ही समाधि कह कर पुकारा जाता है। मनुध्य परमपुरुष को परमात्मा, भगवान आदि नामों से सम्बोधित करता है।

परमपुरुष तो परम सत्ता हैं (absolute) यहाँ तक कि मनोगोचर हैं, उन्हें भा हम अभिव्यक्त नहीं कर पाते। इस कारण हम, जहाँ चरम (Supreme) नहीं है, इस तरह के भाव को ही व्यक्त नहीं कर पाते, वहाँ जो मनोवैज्ञानिक दार्शनिक और भावात्मक रूप के पार हैं, उनको इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त करना तो कठिन है। वहाँ तो मन भी उनका प्रतीकीकरण नहीं कर पाता । मन असमर्थ हो जाता हैं। इसी कारण कहा जाता हैं-7

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दम् ब्रह्मणों विद्वान मा विभेति कुतश्चन ।

परमपुरुष के विषय में कुछ कहने में वाक-इन्द्रिय की हार हो जायेगी। जहाँ वाक् असमर्थ है वहाँ

प्रतीकीकरण भी असमर्थ है। अब प्रश्न उठता है, जो परमपुरुष कहकर जिन्हें आह्वान करते हैं, उन्हें पाने के लिये सूक्ष्म प्रयास करना पड़ता है। यह किस के लिए ? यह तो भाषा का ही प्रतोकीकरण है। यह ठीक है, परन्तु परमपुरुव शब्द, परमपुरुष के लिए, भाषा का प्रतीकीकरण नहीं है। अव देखो, यह जो प्रतीकीकरण की अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति के प्रतीकी करण के द्‌वारा हम क्या करते है ? मैं कहना चाहता हूँ कि 'परमपुरुष' प्रतीकीकृत नहीं हो सकते। इस प्रतीकीकृत भाव की अभिव्यक्ति को हम परमपुरुष के साथ जोड़ देते हैं। कहा गया है कि परमपुरुष के विषय में समझाते समय, वहाँ न भाषा का प्रतीकीकरण होता है, और न हो श्रोता की श्रुति या शब्दों का प्रतीकीकरण होता है। अर्थात् सुनने के लिए और बोलने के लिए दोनों पक्षो में हो शब्दों का प्रतोकीकरण असम्भव हो जाता है। उस

समय गुरु गू ंगा और शिष्य बहा बन जाता है। और गुरु तब गू गे नहीं हो जाएगे तो क्या करेंगे ? वे तो व्यक्त कर सकेंगे नहीं, भाषा की परिधि तो सीमित है। भाषा के द्‍वारा व्यक्त होने पर भी, कान उसे ग्रहण करेगा कैसे ? सामर्थ्य तो सीमित है। इस कारण कृष्णाचार्य कहते हैं कि गुरु की दशा कैसी है ? गुरु है गू गे और शिष्य हैं बहरे ।

तुम जो भी व्यक्त करते हो या कहते हो वह भी आपेक्षिकता के घेरे में आता है। इस कारण वह चरम नहीं हो सकता। इस स्थिति में परमपुरुष के सम्बन्ध में कथावाचक गुरु, किस प्रकार इस परम सत्ता के विषय में कह सकते हैं। इस कारण गुरु को तो गूगा होता ही पड़ेगा और शिष्य को बधिर । ऐसी स्थिति में साधक

क्या करेंगे? चाहे सम्भव नहीं है, फिर भी वह चेष्टा करेंगे। कृराचार्य स्वयं उत्तर देते है कि उस अवस्था में क्या किया जाय ? बहरे और गूगे जैसे अपने में बात करते हैं, उसी तरह मूक और बधिर को इशारे की क्रिया और बातचीत एक तरह का प्रतीकीकरण है - यह सूक्ष्मतर प्रकार का प्रतीकीकरण है। जब वे बात करते है, तब सूक्ष्म प्रतीक के व्यवहार के द्‌वारा चुप रह के भी कयावार्ता सम्पन्न कर लेते है। इस उपायहीन अवस्था में इसके अलावा और क्या किया जा सकता है ? एक और सूक्ष्म प्रतीकीकरण है। हम जब ज्ञानेन्द्रियों द्‌वारा भाव ग्रहण करते है, तब उस भाव के स्पष्टीकरण के बाद ही, वह कर्मेन्द्रिय के द्‌वारा व्यक्त होता है। यह भी समझ लो कि पूर्वोजित प्रारब्ध संस्कारो का प्रतीकीकरण बाहरी प्रतीक़ीकरण होने के पहले ही मन में व्यक्त हो जाता है। जब बाहर व्यक्त नहीं कर सकते

या व्यक्त करने की चेष्टा नहीं करते, तब वह अव्यक्त प्रतीक (latent symbol) संस्कार या relative momenta बन कर रह जाता है। अर्थात् वह प्रतीक के रूप में मन में रह जाता है। मन के भीतर इसका प्रतीकीकरण होता है। पर इस

मानसिक प्रतीक को एक दिन स्थल प्रतीक के रूप में उतरना ही पड़ेगा। यह अव्यक्त प्रतीक मानसिक स्तर से जब तक भौतिक स्तर में परिणत होता नहीं है, तब तक उस मानस प्रतीक को जन्म जन्मान्तरों तक वहन करते रहोगे। इस कारण मनोलोक कार प्रतीक जब तक भौतिक प्रतीकों में रूपान्तरित नहीं होता, तब तक मनुष्य का पुनर्जन्म होता ही रहता है।

यह व्यक्त जगत भी पूर्ण प्रतीकीकरण का एक छोटा अंश है। और इससे भी अति छोटे अंश को मनुष्य

की इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं। तुम उससे कम मन के द्‌वारा ग्रहण कर सकते हो, और, और भी कम अंशों का प्रतीकोकरण कर सकते हो। तुम्हारी शिल्पकृति बहुत ही कम है। मनुष्य जिस वस्तु को पाता है, उसे हाथों द्‌वारा चित्र के माध्यम से व्यक्त कर पाता है, पैरों द्‌वारा नृत्य के माध्यम से अभिव्यक्त कर पाता है, और संगीत के माध्यम से कन्ठ द्‌वारा व्यक्त कर सकता है। जो अच्छा गा सकता है, उसे शिल्पी नहीं कहूँगा। जो हाथों का काम करता है, उसे शिल्पी कहूंगा, जैसे चित्रशिल्पी ।

अव्यक्त जगत में सब कुछ विधूत है। मानसिक स्तर पर इन्द्रियाँ जो ग्रहण कर सकतीं हैं, वह व्यक्त जगत में बहुत ही नगण्य है। और जो अंश मन द्‌वारा गृहीत है या जो आत्मस्थीकृत है या स ंगृहीत हुआ है,

सूचीपत्र

वह सब अव्यक्त जगत में या भूमा मन में विधृत है। इस कारण वह भूमा मन पर निर्भरशील है। इसे आध्यात्मिक-धारा या भूमाचैतिक घारा भी कह सकते हो। इस कारण, मैं बता रहा था कि तुम्हारा जो प्रतीकीकरण है, वह कब भौतिक प्रतीकीकरण में रूपान्तरित होगा, उसकी प्रतीक्षा में क्यों बैठे रहोगे ? अपनी मानसिक प्रतीकीकरण को सूक्ष्म उपायों से,. सूक्ष्म धारा प्रदान करो, जिससे उनकी भूमा तरंग में आश्रय की प्राप्ति हो सके। इससे तुम्हारा प्रतीक मानसाध्यात्मिक तरंग में रूपान्तरित हो जायगा, उससे मानसिक प्रतीक को जागतिक स्तर पर व्यक्त होने के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी होगी। वह मानसाध्यात्मिक तरंग में रूपान्तरित हो जायगी। उसके बाद उसे आध्यात्मिक तरंगों में रूपान्तरित होना पड़ेगा। और क्योंकि आत्मिक सत्ता प्रतीकीकरण के बाहर स्थित है,

इस कारण वहाँ प्रतीकीकरण का झंझट नहीं रहता। यही है मनुष्य की विमुक्ति । यही है मोक्ष, जिसकी प्रतीक्षा मनुष्य जन्म जन्मान्तरों तक करता रहता है। यह बोध जिसमें आ गया है, उसे यह समझना होगा कि और जन्म अन्मान्तरों तक उसे प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। इस जीवन में ही मानसिक प्रतीकीकरण को मानसाध्यात्मिक (Psycho-spiritual symbolisation) प्रतीकी-करण में रूपान्तरित करो। मुक्त पुरुष बन जाओ ।

(२२ मई, १९७९, रांची)

संगच्छध्वं

एक जनप्रिय वैदिक श्लोक में कहा गया हैं :

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथापूर्वे संजनाना उपासते ।
समानी व आकुतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मन यथा वः सुसहासति ।"

'संगच्छध्वं' - यहाँ उपसर्ग 'सं' का अर्थ है सम्यकरूप से, सम्यक पद्धति से सम्यक भाव से, सम्यक छन्द में। इस विश्व का सब कुछ एकक रूप से आगे बढ़ चला है और सामग्रिक रूप में भी आगे बढ़ चला है। अव, यह आगे बढ़े चलना या गति से क्या समझ में आता है ? गति का अर्थ है, वस्तु का स्थान

परिवत्तंन । गति का अर्थ ही है दूति । संस्कृत में गम् धातु का अर्थ है चलना। यह जीवन का द्योतक है। इस कारण हर एक जीवित सत्ता को आगे बढ़े चलना होगा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता ।

किन्तु, सब गतियाँ ही तो संगच्छध्वं है। नहीं, समाज क्या है ? यह कैसे तैयार होता है ? "समानम एजति इति समाजः" । एजति का अर्थ है गच्छति अर्थात् जो चल रहा है। 'गति' के लिए अथवा 'चलना' शब्द के लिए संस्कृत में अनेक क्रिया शब्द हैं - गच्छति, चलति, चरति, व्रजति, एजति- इन सब के विभिन्न अन्त्रानहित अर्थ भी हैं। समाज में अनेक मनुष्य हैं जो एक साथ आगे चल रहे हैं। यहाँ पर एक साथ चल रहे हैं, से तात्पर्य केवल आगे बढ़ चलना नही,

द्रुतगति से आगे बढ़ चलना ही नहीं है। 'एक साथ चल रहे हैं, का अर्थ है समाज के समस्त अंश के लोग ही, समष्टिगत जीवन के हर एक क्षेत्र में, एक साथ चलने का भाव ले कर चल रहे हैं। मान लो, तुमने बहुत अधिक धन का संचय किया है। तुम्हारे घर में किसी प्रकार से भी खानेपीने का अभाव नहीं है, परन्तु समाज का अवशिष्ट अंश अर्थात् तुम्हारे प्रतिवेशी बन्धुबान्धवगण, अर्थाभाव से, खाद्याभाव से, वस्त्र के अभाव में जोवन यापनकर रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि तुम संगच्छध्व का प्रकृत अर्थ मान कर नहीं चलते हो। संगच्छध्वं का अर्थ ही है एक मजबूत दृढ़, दृढ़निवद्ध समाज को बनाना, जहाँ किसी प्रकार का शोषण नहीं हो, नहीं किसी प्रकार की महामन्यता या हीनमन्यता का, बोध हो ।

'संगच्छध्व' के प्रकृत तात्पर्य की प्रतिष्ठा के लिए ही मैंने 'प्राउट', तत्व को दिया है। इस तरह पूरा 'प्राउट' तत्व इस वैदिक संगच्छध्वं मन्त्र पर आधारित है ।

"संवदध्वं' - संस्कृत 'वद्' धातु का अर्थ है 'बोलना' । वात तो सभी करते हैं, तो 'संवदध्वं' - शब्द का मूलगत भाव' क्या है ? 'संवदध्वं' का अर्थ है कि तुम उस भावना के द्वारा परिचालित होगे, जो तुम्हें दूयर्थहीन भाव से बात करना सिखावे । अर्थात् तुम्हारी भाषा किसी प्रकार से भी द्वयर्थ बोधक नहीं होगी। इसे स्पष्ट चूड़ान्त और निश्चित होना ही होगा ।

'संवो मनांसि जानताम्' । बहुवचनात्मक 'वः' शब्द का अर्थ है तुम लोगों का ।' वः बहुत पुराना वैदिक संस्कृत है। लौकिक संस्कृत में अर्थात् अर्वाचीन संस्कृत में "तुमलोगों शब्द के लिए 'युष्माकम्' शब्द है, परन्तु पुराने वैदिक संस्कृत में 'वः' शब्द प्रयोग में आता था। मूल शब्द है वः, इस तरह 'अह' और अहः एक ही का पर्याय है। इसी तरह यह है 'वः'। 'संवो मनांसि जानताम-को गद्य में रूपान्तरित करने पर होगा 'वः मनांसि संजानताम्' ।

तुम्हें यह जानना चाहिए कि सारी सृष्टि का उत्स और समस्त अणुजीवों का उत्स हैं, परमपिता। उन परमपिता से ही समस्त अणुजीव आए हैं। इस मूल सत्य को तुम्हें कभी भी भूलना नहीं चाहिए। विभिन्न

अणु जीवों में पार्थक्य का कारण है, अणुजीवों में संस्कारगत तारतम्य । पर तुम्हें हर समय याद रखना चाहिए कि इस हर एक अणु सत्ता का उत्स है, एक चरम सत्ता - एक व अद्वितीय भूमा सत्ता । तरह की चेतना के कारण मनुष्यों के बीच का सम्पर्क और भी घनिष्ठ रूप में बन जायेगा । संवो मनांसि जानताम् - तुम्हें इस सत्य को जानना चाहिए। तुम सब इस तथ्य को कभी मत भूलो ।

'देवाभागं यथापूर्व संजानाना उपासते' यहाँ 'देव' शब्द संस्कृत के दिव् धातु से निष्पन्न होता है। 'दिव्' धातु का अर्थ है दैवी अस्तित्व । इस कारण देव का अर्थ भी यही है। यह भी देवी अस्तित्व को ही समझाता है। मषि याज्ञवल्क्य ने कहा है -

'द्योतते क्रीड़ते यस्मादुद्यते द्योतते दिवि
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदेवतैः ।'

परमपुरुष से उत्सारित समस्त तरंगराजि, समस्त स्पन्दनधाराएँ देव नाम से पुकारी जाती हैं। देवाभागं यथापूर्वे का अर्थ है अतीत के सब तरह की देवी तरंगराजि । मैंने अतीत शब्द का व्यवहार क्यों किया ? क्योंकि मानव सभ्यता के उषाकाल से अनेक तरंगराजि उत्सारित होतो चली आई हैं। कर्मगत क्षेत्र में इन तरंगराजियों के मध्य कोई पार्थक्य नहीं है। साम्य और ऐक्य सब समय ही रहे हैं। रोशनी-जल-श्वास-प्रश्वास अन्य किसी चीज की बात ही ली जाय- इन सब का प्रयोजन हर एक जीव के क्षेत्र में अनस्वीकार्य है। इस

क्षेत्र में कोई तारतम्य नहीं है। हम आज के समाज में जो तारतम्य या वैषम्य देख रहे हैं वह सुविधावादियों का बनाया है जो नीच हैं, होन है और दुर्नीतिपरायण हैं। इस कारण दुर्नीतिपरायण मनुष्यों की इस प्रकार की कर्मगत त्रुटि को तुम्हारे द्वारा सभर्थन मिलना उचित नहीं है। तुम सब को हर समय दैवी स्पन्दनात्मक पद्धति का स्मरण करना ही उचित हैं। मनुष्यों में यह जो आपात् पार्थक्य है उसे तुम लोग ढूंढ़ निकालने के लिए सदैव चेष्टा करोगे ।

'देवाभागं यथापूर्व संजानाना उपासते' । दिव्य द्योतना का स्वभाव है कि उसमें कोई भेद भाव नहीं रहता है। कोई भी शोषक-शोषित की सीमारेखा नहीं रहती। इस प्रकार के किसी भेदभाव की नहीं सृष्टि

करना ही उनका कत्र्तव्य था, उनकी उपासना, आस्तित्विक प्रगति का मौलिक लक्ष्य था ।

'समानि व आकुति' । इस विश्व का सब कुछ जब एक ही उत्स से है, एक हो सृष्टिकर्त्ता से उत्सारित हो रहा है और अन्त में जब सब कुछ उसी चरम विन्दु में जा कर मिल जायगा, तब समस्त व्यष्टि सत्ता के हृदय की आशा-आकांक्षा, एषणा-आकुति को एकही होना पड़ेगा। परन्तु कुछ दुर्नीतिपरायण मनुष्यों के हीन अपकर्म के फलस्वरूप जो लोग शोषित हैं, अवहेलित हैं, वे उस मूल लक्ष्य को भूलने को बाध्य हुए हैं। वे - अपने जीवन के लक्ष्य से दूर होते जा रहे हैं। ऐसा होने देना ठीक नहीं है। परमपुरुष के द्‌वारा हरएक की आशा-आकांक्षा की परिपूत्ति का पूरा सुयोग हरेकके लिए जरूरी है।

सूचीपत्र

'समाना हृदय नि वः' । इस विश्व में जब सब कुछ एक परमसत्ता से उद्भूत है और एक ही पथ को पकड़ चरम और परम परिणति की ओर बढ़ रहा है, तब - मनुष्यों में क्या किसी प्रकार काभेद रहना ठीक है? नहीं, ऐसा रहना किसी रूप में भी ठीक नहीं है। सब को ऐसा सुयोग देना होगा या ऐसा अनुकूल परिवेश तैयार करना होगा कि कोई भी यह सोचने का मौका न पाये कि उसका भाग्य चिरकाल के लिए अवरुद्ध हो गया है। इसलिये सब यह अनुभव करे कि यह परिदृश्यमान विश्व का सब कोई एक वृहत्तर मानव परिवार के सदस्य हैं।

'एक चौका, एक चूल्हा, एक है मानव समाज'-

सूचीपत्र

'समानमस्तु वो मनः, एक भूमा सत्ता से सब अणुसत्ता ए उद्भुत हैं और अन्त में वे सब इस एक और अद्वितीय भूमासत्ता में मिलकर एक हो जाएगी। इसलिये अणुसत्ता जितने दिन समाज, में है, या खण्ड व्यक्त जगत् में है, उतने दिनों तक उन्हें इस चरम सत्य को याद रखना जरूरी है कि वस्तुतः वे अभिन्न और एक हैं, एक ही सत्ता ने भिन्न भिन्न आधारों में स्वयं को व्यक्त किया है। और जब तक यह याद रहेगा और याद रखना भी कोई कठिन कार्य नहीं है, तब क्या होगा - तब एक सचमुच ही एक समाज बनेगा । मनुष्य मात्रका ही सवनुच में एक समाज तैयार होगा । मनुष्य मात्र का यह महत्तम कत्तव्य है, यह जीवन का सब से बड़ा व्रत है। जो लोग इस तत्व को नहीं मानना चाहते, जो इस तत्व को भुलाए रखना चाहते हैं, वे असल में मानव समाज के शत्रु हैं। जो जात-पाँत, जातिवाद,

प्रादेशिकतावाद संकीर्णतावाद राष्ट्रीयतावाद यहाँ तक कि अन्तराष्ट्रीयतावाद का समर्थन करते हैं, वे वृहत्तर मानव समाज के शत्रु हैं। मनुष्य का समाज एक ही इज्म पर आधारित होना चाहिए और वह इज्म है- पुनिवर्सलिज्म या विश्वकतावाद ।

१२ अक्टूबर, १९७८, पटना ।

अर्थ और परमार्थ

शास्त्र में कहा गया है-

"पाशवद्धः भवेज्जीवः पाशमुक्तो भवेच्छिवः ।"

'Pa'shabaddhah bhavejjiivah Pa'shamukto Bhavecchivah."

व्यष्टिसत्ता जब मायाजाल में आवद्ध रहती है, तब उसे जीव या अणुमन कहते हैं। अर्थात जीव का वैशिष्ट्य है बन्धन । ब्रह्मकृपा से साधना के द्वारा जो इस बम्धन को छिन्नकर अपने को मुक्तकर सकते हैं, तभी वे शिवत्व में उन्नतीत होते हैं। तव शिव और जीव के बीच मूलगत पार्थक्यमात्र एक विषय में है- शिव है बन्धन-मुक्त और जीव है बन्धनयुक्त । वन्धन में कौन रहना चाहता है ? कोई नहीं । सभी मनुष्य स्वाधीनता चाहते हैं- मुक्ति चाहते हैं- सब प्रकार के बन्धन से मुक्ति चाहते हैं। मनुष्य सामयिक रूप से विशेष बन्धन

से मुक्त हो सकता है, किन्तु कुछ समय के बाद, उसका वही बन्धन फिर लौट आता है। इस अवस्था की तुलना एक पक्षी की अवस्था से की जा सकती है। पिञ्जड़ में आबद्ध एक पक्षी को पिञ्जड़े से बाहर कर, एक बड़े घर में, कुछ देर के लिये रखा गया, फिर कुछ देरबाद उसी पिंजड़े में उसे डाल दिया गया। थोड़ी देर की इस मुक्ति से जीव का कुछ लाभहुआ क्या ? इसी प्रकार की सामयिक बन्धन से मुक्ति को कहा जाता है 'अर्थ' । जैसे एक आदमी को बहुत भूख लगी है। क्षुधातृप्ति के लिये वह खाद्य संग्रह करने के लिये बाध्य होगा। खाद्य का प्रबन्ध करने से सामयिक क्षुधा की निवृत्ति होगी; अर्थात् क्षुधा के प्रभाव या बन्धन से सामयिक रूप से ऊपरी मुक्ति होगी। अब, यह खाद्य कहाँ से आया ? किस तरह वह व्यष्टि खाद्य संग्रह कर पाया ?- रुपये से । इसी रुपये का दूसरा नाम हुआ

'अर्थ' । 'अर्थ' शब्द के, माने के लिये, दो शब्द पाया जाता है- एक हुआ 'माने' दूसरा हुआ 'रुपया' । रुपया सामयिक रूप से बन्धन-मुक्ति लाभ कराता है।

आज जो मनुष्य क्षुधार्त है, वह रुपये की सहायता से क्षुधा निवृत्त हो गया, किन्तु -दूसरे दिन फिर क्षुधा का उद्रेक होगा। उस मनुध्य को फिर खाद्‌य का प्रयोजन होगा । इसलिये रुपये की सहायता से जो मुक्ति होती है, वह कभी भी स्थात्री नहीं हो सकती। तब इस क्षण-स्थायी जगत में क्षण-स्थायी वस्तु की ही हमलोंगों को प्रयोजन होता है। इस आपेक्षिक जगत में आपेक्षिक वस्तु और सत्ता के परिवेश में ही हमलोगों को वास करना पड़ता है, इसलिये हमलोगों की जिज्ञासा है, "जीवन के सम्पर्क में हमलोगों की दृष्टिभङ्गी क्या होनी चाहिये ?" जीवन की दृष्टिभङ्गी होनी चाहिये,

'आपेक्षिक जगत के साथ सामञ्जस्य रखकर परमसत्ता की ओर अग्रसर होना ।' वि िविश्व को हमलोग अस्वीकार नहीं कर सकते; 'अर्थ' या रुपया को भी अस्वीकार नहीं कर सकते। सामयिक दु.ख-यन्त्रणा के हाथ से मुक्ति पाने के लिये अर्थ का प्रयोजन है ठीक ही; किन्तु दुःख-यन्त्रणा के हाथ से स्थायी मुक्ति जिसके सहाय्य से संभव है, वही है 'परमार्थ। अर्थ और परमार्थ के बीच यही भेद है। मनुष्य की योग्यता बहुत ही सीमित है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

मनुष्य का क्लेश त्रिविध है- (१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक (३) आध्यात्मिक । आधिभौतक दुःख वे हैं, जिनका कारण है वस्तुजगत । आधिदैविक दुःख वे हैं, जिनका उत्स अमूत्त जगत मनुष्य का मनोराज्य है। ऐसे

देश हैं, जहाँ लोगोंका अच्छा खाना-पीना पहनना उपलब्ध है। किन्तु क्या वे सुखी हैं? वे सुखी नहीं हैं। दुःख, यन्त्रणा, रोग सभी उनके पास हैं । प्रियजन से विछुड़कर आँखों की अश्रुधारा में उनका हृदय भींज जाता है। सुतरां, दुःख उन्हें है। ये सब दुःख हैं आधिदैविक ।

इसके पश्चात है आध्यात्मिक दुःख । मनुष्य के मन की परिधि बहुत ही छोटी है। वह भी फिर सीमित विषय लेकर व्यस्त रहता है। इन सीमित आयोगों से मन को ऊध्वं उठना होगा। सीमित सुख से मन को असीम आनन्दमयसत्ता में रूपान्तरित करना होगा। सीमित मानसिक सम्पत्ति ही आध्यात्मिक क्लेश का कारण है। सीमा के बन्धन के छिन्न होने की अवस्था को ही आध्यात्मिक मुक्ति कहते हैं। 'आध्यात्मिक मुक्ति' की स्थायी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। मनुष्य की क्षमता सीमित है। जो अर्थ, मनुष्य को बलेश से सामयिक--

मुक्ति दिलाने में सहायता करता है, वह अर्थ भी संसार में सीमित है। यदि मनुष्य के पास किञ्चित परिमाण में अर्थ सञ्चित होता है, तब सम-परिमाण में अन्य मनुष्य को अर्थ से वञ्चित होना पड़ता है। अतः इच्छानुसार प्रचुर अर्थ किसी के पास सञ्चित होना उचित नहीं है। जो भी हो, मनुष्य के क्लेश को दूर करने के उपाय को अवश्य ही खोजकर निकालना होगा। अन्यान्य क्लेश के साथ इस वलेश को भी दूर करने के लिये, हमे एक नया 'सामाजिक-अर्थ नैतिक तत्व' आविष्कार करना होगा। वही 'सामाजिक अर्थनैतिक तत्व' है- प्राउट' । प्राउट को छोड़कर इस क्लेश को दूरकर मानवता की रक्षा करने के लिये, अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्नहीन को परमार्थ की बात सुनाने से कोई लाभ नहीं है। बास्तव जगत में बचने के लिये अर्थ की आवश्यकता है। अस्तित्व की

रक्षा का माध्यम है 'अर्थ'। और उसी के साथ आवश्यक है 'परमार्थ' ।

परभार्थ वही तत्व है, जिससे हमलोगों के त्रिविध दुःख-क्लेश की स्थायी निवृत्क्ति प्राप्त होती है। "स्थायी निवृत्ति" कहने से दुःख यन्त्रणादिका अवसान हुआ है और फिर वे नहीं आयेंगे, वही समझाया गया है। यदि ऐसा हो कि क्षुधा-क्लेश की निवृत्ति हुई है और वह फिर नहीं आयेगी, अव अर्थ को उसी निवृत्ति के कारण रूप में 'परमार्थ' कहेंगे। यहाँ 'परमार्थ' की बात तुमलोगों को समभाने के लिये कही गई ।

आज एक नये तत्व का प्रयोजन है, जिसकी, व्यवहारिक क्षेत्र में, अभी ही प्रयोग करने की

सूचीपत्र

आवश्यकता है। नया तत्व किसी सङ्कीर्ण परिसर के मन द्वारा उद्भूत नहीं हो सकता। जो उन्नत प्रवुद्ध मन के द्वारा विश्व संसार का निरीक्षण करते हैं, एकमात्र वे ही नये तत्व के आविष्कर्ता हो सकते हैं। दूसरे किसी से यह संभव नहीं है। परमार्थ एक तत्व है और परमार्थ के सम्बन्ध में भी यह बात कही जा सकती है।

एक तरफ है मनुष्य की दोष त्रुटि, अपूर्णता जिससे वह नाना प्रकार का कष्ट पाता है। दूसरी ओर, उसके विरुद्ध में शक्ति स्वरूपिणी माया कार्य करती है। यह माया प्रचण्ड शक्तिमयी है। प्रतिनियत ही मनुष्य को, बहुमुखी प्रवृत्ति और स्वार्थपरता के अधीन लाकर, वह अपना उद्देश्य चरिताथ करना चाहती है। जितने दिनों तक मनुष्य असहाय रूप में विश्वमाया के

प्रभावाधीन रहता है, उतने दिनों तक उसके ऊपर विश्वमाया के प्रपञ्च का चाप रहता है। और जब वह देखती है, उसका बन्धन ढीला हो रहा है, तभी वह विभिन्न शक्ति की सहायता से, वह उस मनुष्य को विपथगामी करने के लिये सचेन्ट हो उठती है, जिससे कि वह उनके नियन्त्रण में रहे। इस दासत्व के परिवेश में मनुष्य कभी भी परमार्थ लाभनहीं कर सकता। स्वामी अथवा स्त्री की ओर से बाधा आती है। इस तरह विभिन्न दिशाओं से बाधाए आती हैं। ये सब विभिन्न प्रकार की बाधाए विश्वमाया द्‍वारा ही पृष्ट होती हैं। इन सब बाधाओं का अतिक्रमण करना ही होगा। जब विश्वमाया अत्यन्त ऋद्‍ध और शक्तिशालिनी हो उठती हैं, तब मनुष्य के लिये क्या करणीय है ?

मनुष्य को उसके लिये दुश्चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि परमपुरुष का आशीर्वाद उस पर है। दो श्लोक है-

दैवी ह्यषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते ।।

Daevii hyes'a' Gun'amayii Mama Ma'ya duratyaya'.
Ma meva ye Prapadyante Ma'ya meta'm' tarantite.

त्वम् वैष्णावी शक्तिरनन्तबोर्या,
विश्वस्य बीजं परमासि माया ।
सम्मोहितं देवी समस्तमेतद्,
त्वंवै प्रसन्ना भुवि मुक्ति हेतुः ।।

सूचीपत्र

Tv'am' Vaes'n'avii shakhiranantaviirya',
Vishvasya biijam' Paramasi ma'ya'.
Sammohitam' devii samastametad,
Tvam'vae Prasanna bhuvi Mukti hetuh.

यह असीम क्षमतामयी माया है ऐशी शक्ति और यह शक्ति तथा क्षमता सब मेरे हैं। तब जिस व्यष्टि ने मुझ में आश्रय ग्रहण किया है, माया उसकी कोई क्षति नहीं कर सकती। कारण है, माया तो परमपुरुष का ही अंश है। परमपुरुष हैं माया, शक्ति के नियंत्रक । इस लिये जिस व्यष्टि ने परमपुरुष में आश्रय पाया है, माया उसको कुछ नहीं कर सकती है। कितनी भी शक्ति उसको क्यों न हो। मनुष्य केवल उसी अवस्था से माया को प्रतिहत कर सकता है। सच बात तो यह है कि,

सभी क्षेत्रों में, माया शक्ति के विरुद्ध मंग्राम का प्रयोजन है, ऐसी कोई बात नहीं है। माया स्वयं पराजित होकर आत्म समर्पण करती है। सुतरां, बुद्धिमान मनुष्य के लिये क्या करणीय है ?

गतदिन मैंने कहा था, "वह पुरुष या स्त्री ही क्यों न हो, मानव मात्र को उचित है कि वह अहमिका का त्याग करे। मनुष्य सिर्फ सोचेगा, "मैं बच्चा हूँ, परमपुरुष की गोद में बैठा हूँ। माया मेरी क्या कर लेगी ? सचमुच में माया उसको कुछ नहीं कर सकती। दूसरी एक और बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है, जिसके विषय में मैं पहले भी बोल चुका हूँ। अनेक लोग सोचते है, "मैं पापी हूं, मैंने अन्याय किया है" इत्यादि। यह भी ठीक नहीं है। मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही हो जाता है। इसलिये जो मनुष्य सर्वदा सोचता रहता है, "मैं पापी हू,

मैं पापी हू" वह अन्त में पापी हो जाता है, यद्यपि वह प्रकृत पापी नहीं है। सुतरां, वैसी चिन्ता करने से लाभ क्या है ? वह विकृत भावना है।

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।"

Ya'drshii bha'vana' yasya-Siddhir bhavati ta'drshli.

दस्यु, तस्कर तथा दुश्कृतिकारियों में विभिन्न स्तर है। जैसे एक पॉकेटमार है तथा एक सेंधमार कर चोरी करने वाला चोर है। इनलोगों में प्रत्येक का अपना समाज होता है और विशेष प्रकार की सामाजिक मान-मर्यादा भी होती है। जैसे एक पक्का चोर एक पाकेटमार को उतना महत्व नहीं देगा । उसी प्रकार पापियों में भी विभिन्न स्तर है। पापीलोग भी जिन्हें पापी कहते हैं,

दुष्कृतिकारी-लोग जिनको, उनकी अपेक्षा भी अधिकतर दुष्कृतिकारी मानते हैं-वही हैं सभी पापियों की अपेक्षा अधिक पापी। इस प्रकार के पापी, जिन्हें अन्य पापीलोग भी घृणा करते हैं, वह भी यदि परमपुरुष को एकाग्रचित्त से स्मरण करे; यदि वह मेरी शरण में आये, और चिन्तन करे कि वह मेरी गोद में बैठा है, और कहे, "हे ईश्वर, मैं तुम्हारी संतान हूँ, मेरी रक्षा करो" - इस पापी को भी मैं सभी पापों से उद्धार करूंगा। इस विषय में किसी को सिरदर्द मोल लेने की जरूरत नहीं है।

इस प्रकार के मनुष्य, उनका अतीत जीवन कितना भी अन्धकाराच्छन्न क्यों न हो, यदि परमपुरुष के यहाँ आश्रयनार्थी हों, तव वे अवश्य ही पापमुक्त होंगे। इस विषय में संशय की कोई गुञ्जाईण नहीं है। "मैं पापी हूँ, मैं पापी हूं" इस तरह का चिन्तन तुमलोग

सूचीपत्र

कभी नहीं करोगे। इस तरह के चिन्तन को तुमलोग कभी प्रश्रय नहीं दोगे । इस प्रसङ्ग में तुमलोग मदालसा की कहानी याद रखोगे ।

(सुबह ४ बजे, १९७८ ई० कलिकाता)

समाज व्यवस्था और महामन्यता - हीनमन्यता रोग

अधिकांश मनुष्य एक प्रकार के मनोरोग से ग्रसित हैं- कोई महामन्यता से ग्रसित है तो कोई

हीनमन्यता से ग्रसित है। मनुध्य में जितना अपरिहार्य गुण रहना चाहिये उसमें अन्यतम है-एक सुसन्तुलित मानसिक अवस्था । अर्थात् मन की एक ऐसी अवस्था जहाँ मनुष्य किसी प्रकार का कम्प्लेक्स या मनोरोग से ग्रसित नहीं होता, जब उसे महामन्यता, हीनमन्यता, या भीतमन्यता या किसी प्रकार का घृणा का भाव, कुछ भी उसके मन को कलुषित कर नहीं पाता। मनुष्य को सदैव सब प्रकार के कम्प्लेक्स के ऊर्ध्व रहना होगा। किसी कम्प्लेक्स को मन के अन्दर जमने नहीं देना होगा ।

दोष-गुण पूर्ण ही मनुष्य है। मनुष्य के अनेक गुणोंमें एक है-किसी कम्प्लेक्स के ऊपर रहना ।

अब प्रश्न है दोष किसे कहते हैं ?

सूचीपत्र

निद्रा-तन्द्रा-भयं-क्रोधः आलस्यं दीर्घसूत्रता ।
एते हातव्या षड़दोषाः भूतिमिच्छता ।।

निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य, और दीर्घ-सूत्रता ये सब हैं बड़े प्रकार के दोष, जो जीवन में उन्नति चाहते हैं, उन्हें इन दोषों को त्याग करना होगा।

निद्रा माने सोना। कोई किसी प्रकार निद्रारूपी कु-अभ्यास के शिकंजे या चंगुल में न पड़े। फिर, मानो कोई कुछ कहते हैं - तुम वह सुनते हो, किन्तु उस समय तुम्हारा मन कहीं अन्यत्र है, यही 'तन्द्रा' है। इस प्रसङ्ग में, मैं तुम्हें रामायण से एक तन्द्रा की कहानी सुनाता हूँ। तुमलोग तो जानते हो रामायण एक पुराण है। पुराण इसलिये कहते हैं; क्योंकि इसमें अनेक प्रकार

की कहानियों का सन्निवेश घटा है। और वे कहानियाँ विशेष शिक्षणीय (educative) हैं। इस ग्रन्थ की घटनाएँ सत्य नहीं है, किन्तु उनका कुछ शिक्षागत मूल्य है, इसलिये उसको पुराण कहते हैं।

उसी रामायण में एक घटना है- राम-लक्ष्मण उस समय वनवास में थे । लक्ष्मण का रक्षा विभाग का दायित्व था। उन्हें बहुत नींद आयी। इसके लिये वे तैयार नहीं थे। इसलिये क्रोधकर निद्रा देवी को भगाने के लिये, तीर धनुष उन्होंने उठा लिया। यह देख कर निद्रादेवी ने लक्ष्मण को कहा, "तुम्हारे ऐसा एक साहसी वीर योद्धा को तीर-धनुष लेकर एक महिला के ऊपर हमला करना एक्दम शोभा नहीं देता है।" तब लक्ष्मण बोले, "मेरा दायित्व रक्षा विभाग का है। तब उनदोनों में एक आपोष मीमांसा इस शर्त पर हुआ कि आगामी चौदह वर्षों तक

लक्ष्मण को आखों के पलक पर निद्रादेवी एक क्षण के लिये भी नहीं आयेंगी। चौदह वर्ष राम-लक्ष्मण-सीता बनवास में रहेंगे ।

चौदह वर्षों के अतिक्रान्त होने पर, अयोध्या में रामचन्द्र के राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में प्रकाण्ड उत्सव हो रहा है। चौदह वर्ष बीत जाने पर फिर लक्ष्मण की आँखों में नींद आ गई। इस बार भी वे निद्रादेवी को भगाने के लिये तीर-धनुष लेकर तैयार हुये । किन्तु निद्रादेवी प्रवल प्रतिवाद कर बोलीं, "मैं तो सन्धि शत्त के अनुसार चौदह वर्ष के बाद लौट कर बायी हूं। इसलिये है लक्ष्मण । तीर-धनुष लेकर आक्रमण करने का तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।" लक्ष्मण ने, धीमे स्वर में निद्रादेवी को अनुरोध कर कहा, "देखिये, अभी मैं बहुत व्यस्त हूँ। युवराज रामचन्द्र का राजतिलक हो रहा है,

मुझे चामर डुलाना पड़ता है। अन्ततः मैं इस समय निद्राग्रस्त न होऊ, ऐसा करना है।"

निद्रादेवी बोली, "तब मैं अभी कहाँ जाऊँ। मैं तो अभी अपनी पूरी शक्ति लेकर पहुंच गई हूं।" लक्ष्मण ने कहा. "तब एक काम कीजिये, धर्म सभा में जाकर खोज कीजिये। कौन कौन अधार्मिक मनुष्य उस धर्म सभा में बैठा है। उन्हीं की आँखों के पलक के ऊपर जाकर बैठें।" इसलिये मैं तुमलोगों को कहता हूँ, "सावधान रहो। तुमलोग धर्म सभा में सम्मिलित होने के लिये आये हो। तन्द्राग्रस्त मत होओ।"

भीतमन्यता मनुष्य का एक बहुत बड़ा दोष आलस्य और दीर्घसूत्रता। दीर्घसूत्रता अब, भय के विषय

पर आता हूँ। है। और अवशिष्ट दोषसमूह हैं- क्रोध, का अर्थ है-हाथ में आये कार्य को खतम न कर, आज नहीं कल, कल्ह नहीं परसों, ऐसा ढुलमुल करना ।

पहले ही कह चुका हूँ- मन की साम्यावस्था बचा कर रखना मनुष्य का एक बहुत बड़ा गुण है। साम्यावस्था-प्राप्त मन में कोई कम्प्लेक्स रह नहीं सकता। उस अवस्था में मनुष्य अपने को किसी की अपेक्षा बड़ा नहीं समझता है। किसी से डरता भो नही है, किसी तरह से विचलित नहीं होता है। सभी अवस्था में एक सुन्दर मानसिक भारसाम्य बना कर चलता है।

त्रुटिपूर्ण समाज व्यवस्था के कारण हो मनुष्य के मन में होतमन्यता और महामन्यता का रोग जड़जम. ने

का सुयोग पाता है। भीत-मन्यता का रोग ठीक उसो कारण से उत्पन्न नहीं होता। यह एक सम्पूर्ण भिन्न प्रकार का रोग है। फिर, ऐसे कुछ लोग हैं, जिन्हें समाज में क्रीतदास का जोवनयापन करना पड़ता है। और इसलिये वे जबर्दस्त हीन-मन्यता रोग से पीड़ित रहते हैं। उनका सर हमेशे नीचे झुका रहता है। फिर ऐसे कुछ लोग हैं, जो जन्म से हो विशाल भूमि-सम्पत्ति के अधिकारी हो जाते हैं। वे भूमि सम्पत्ति तथा वंश-कौलिन्य का उत्तराधिकार पा जाते हैं। उस प्राप्त ऐश्वर्य के गर्व से उनके सर इतने ऊँचे हो जाते हैं कि मालूम पड़ता है कि उनका सर पीछे की ओर झुक गया है। ये जो कम्प्लेक्स, इनका जन्म, त्रुटिपूर्ण समाज व्यवस्था से होता है। कम्प्लेक्स वस्तू ही है, भौतिक जगत तथा सामाजिक अर्थनैतिक स्तर की वस्तु । आध्यात्मिक

स्तर में या आध्यात्मिक आस्तित्विक स्तर में कम्प्लेक्स नाम की कोई चीज़ नहीं रह सकती है ।

आध्यात्मिक जगत में कोई कम्प्लेक्स जग ही नहीं सकता है; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का परमपुरुष के साथ एकदम वैयष्टिक सम्बन्ध हो गया है। इसलिये परमपुरुष और भक्त के बीच किसी तृतीय सत्ता का अस्तित्व ही नहीं रहता ह। रहतो है केवल दो सत्ता- परमपिता और साधक। साधक परमपिता की ओर अग्रसरित होता है और शेष पर्यन्त उनकी स्नेहमय गोद में उठकर बैठ जाता है। प्रत्येक जीव का ही यह जन्मगत अधिकार है। तथाकथित नीच जाति, वर्ण, शिक्षा दारिद्र्य किसी भी कारण से किसी को उस अधिकार से वञ्चित नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस सम्बन्ध में सब का जन्मगत अधिकार है ।

इसलिये आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी प्रकार के कम्प्लेक्स का स्थान नहीं है। त्रुटिपूर्ण समाज व्यवस्था ही मनुष्य के मन में होनमन्यता का रोग घुसा देती है। यही नही, मनुष्य जब आध्यात्मिक जगत में भी पदार्पण करता है, तब भी यह रोग उसके मन से दूर होना नहीं चाहता है। वह सोचता है, परमपुरुष इतने विराट हैं, इतने महान हैं, तो नीच कुलजाति, दरिद्र, अशिक्षित अति साधारण मनुष्य, परमपुरुष के निकट कैसे जा सकता है ? शास्त्रीय भाषा में इसे कहते है महिम्नबोध, किन्तु यह बात भूलनी नही होगी कि भक्त और परमपुरुष के बीच जो सम्पर्क है, वह है पिता-पुत्रका सम्बन्ध । पिता यदि महान पण्डित भी हो, अशिक्षित पुत्र उनके ही पास जाता है, और उसकी जो आवश्यकता है, वह पाने के लिये उनके ही पास बातचीत करता है;

क्योंकि शिशु के प्रति उनके पिता-माता की गम्भीर ममता रहती है।

थोड़ी देर पहले ही कह चुका हूँ कि आध्यात्मिक क्षेत्र में किसी कम्प्लेक्स का स्थान नहीं है। किन्तु सामाजिक त्रुटिपूर्ण ढाँचा के कारण मनुष्य के मन में कम्प्लेक्स, अपनी शाखा प्रशाखा विस्तार करता है। सामाजिक संरचना में जहाँ भेद है, त्रुटि है, आध्यात्मिक साधक के रूप में, हमलोगों का करैणीय है, उनका संशोधन करना । यदि वैसा न कर सकें तो समाज में बड़े बड़े साधक पैदा नहीं हो सकते। उनमें बड़े बड़े आध्यात्मिक साधक होने की सम्भावना रहती है उनके पक्ष में उन्नति लाभ करना सम्भव नहीं भी हो सकता है। उनकी अवस्था ठीक उसी तरह के फल के समान है,

जो प्रस्फुटित होने के पूर्व ही वृक्ष से झड़ कर गिर जाते हैं।

हमलोग ऐसा होने नहीं देंगे। इसलिये 'प्राउट' तत्व की उद्‌भावना की गई है, जिससे मनुष्य शीघ्रता से उन्नति पथ पकड़कर आगे चले। किसी में यदि महामन्यताबोध रहे भी तो वह रहेगी, इस कारण से कि मनुष्यमात्र ही विश्वपिता की सन्तान है, जो विश्वपिता इतने सुमहान हैं, इतने शक्तिमान है। मनुष्य को केवल इस प्रकार की महामन्यता को प्रश्रय देना चाहिये। मनुध्य की जो कुछ सम्पत्ति है, वह सब तो विश्वपिता का अवदान है। और इसलिये किसी भी मनुष्य को प्रश्रय देने का अधिकार नहीं है। इसलिये आस्तित्विक क्षेत्र में किसी प्रकार का कम्प्लेक्स, ठहराकर रखने का कोई सङ्गत कारण नहीं है। अर्थात् दूसरी तरह से कहने के

लिये - कह सकते हैं- कि सबमें एक साधारण कम्प्लेक्स रह भी सकता है कि सब उसी एक विश्वपिता की सन्तान हैं। इसलिये कोई किसी की अपेक्षा हीन या नीच नहीं है। और कोई किसी की अपेक्षा बड़ा भी नहीं है।

परमपुरुष जीव से बहुत दूर भी नहीं, बहुत निकट भी नहीं हैं। उसका कारण है- उनका कत्तव्य ही है सबकी देख भाल करना। क्योंकि सबों की देख भाल करना ही उनका कत्र्तव्य है, इसलिये वे सब की देखभाल करेंगे ही। वे सवके लिये यथायोग्य यत्न करेंगे। सबकी ठीक तरह से देख भाल करेंगे। यह तो उन्हें करना ही होगा, क्योंकि वे सब को प्यार करते हैं। और यह उनका कर्त्तव्य है। मानो, किसी युवक ने असत् सङ्ग में पड़ कर बीस वर्ष की उम्र में सिगरेट पीने का कु-अभ्यास पकड़ लिया है। वह नहीं चाहता है कि उसके पिताजी

इस धुम्रपान के कु-अभ्यास को जानें। किन्तु परमपिता तो वह जानते हैं, वह देखते भी हैं। हो सकता है, वे कुछ बोलते नहीं हैं। क्योंकि हो सकता है युवक को लज्जा लगे । उन्हें प्रत्येक के साथ साथ रहना पड़ता है (क्योंकि, कोई क्या करता है, यह तो जानना होगा, तभी न सब का प्रबन्ध करना सम्भव होगा)। इसलिये उन्हें प्रत्येक सत्ता के साथ अलग अलग मिल जुलकर रहना पड़ता है। इसी को कहते हैं परमपुरुप का ओतयोग। वे सामग्रिक रूप से सबके साथ युक्त हैं। इसी को प्रोतयोग कहते हैं। इस पृथ्वी पर परमपुरुष इसलिये अपने आस्तित्विक संरचना लेकर उपस्थित हुये कि उनकी ही वे देख भाल करेंगे। इतना ही नहीं जो मानव देह छोड़ कर पहले ही चले गये हैं, किन्तु अभी भी कोई नया जैव आधार नहीं पाया है, किन्तु तभी भी आस्तित्विक जगत में उनकी उपस्थिति है, वे उनकी भी देख भाल

करते हैं। वस्तुतः वे सब के साथ हैं। और इस विचार से, इसलिये कोई छोटा या बड़ा नहीं हो सकता ।

इसलिये आस्तित्विक क्षेत्र में किसी प्रकार का कम्प्लेक्स मनुष्य की क्षति नहीं कर सकता। हमलोगों को, समाज व्यवस्था को इस तरह से गढ़ना होगा, जिससे मानव मन में कोई कम्प्लेक्स ही नहीं घुस सके । हमलोगों को इस प्रकार की समाज व्यवस्था की सरचना करनी होगी.. और संरचना करनी होगी इसी मुहुर्त, अविलम्ब ।

(२० नवम्बर, १९७८, दिल्ली)

-

चतुर्वर्ग और भक्ति

रामायण में एक छोटा कथानक है। एकवार राम लक्ष्मण को साथ लेकर, मषि विश्वामित्र गङ्गा पार होकर मिथिला जा रहे थे। तुमलोग जानते हो कि संस्कृत साहित्य में चार विशेष प्रकार के शब्द हैं। एक है 'काव्य', दूसरा 'पुराण', तीसरा- 'इतिकथा' और चौथा है- 'इतिहास' । काव्य कहते हैं-

'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' । किसी बात को यदि बहुत सरस कर (in a lucid way), काफी सु-सज्जित कर कहा जाय, तब उसे काव्य कहते हैं। वह घटना सच्ची भी हो सकती है, नहीं भी हो सकती है, शिक्षाप्रद हो भी

सकती है, नहीं भी हो सकती है। खूब सरस कर कहना ही हुआ काव्य ।

दूसरा है पुराण । पुराण क्या है? घटना सत्य नहीं है, किन्तु उसका शिक्षागत मूल्य है (educative value)। शिक्षागत मूल्य रहने से ही उसे पुराणं कहेंगे । जैसे व्यासदेव ने अठारह पुराण लिखा था। पुराण सब कथानक हैं, कोई सच नहीं हैं। किन्तु लोक शिक्षा के उद्देश्य से, उन्होंने कथानकों को नाना प्रकार के देवदेवियों का वर्णन किया गया है, अवश्य ही बातें सत्य नहीं थीं, इसलिये पुराणों मन में ग्लानि भी हुई थी। आत्मग्लानि हुई तैयार किया था। पुराणों में अनेक प्रकार की बातें कही गई हैं। के लिखने के बाद व्यासदेव के इसलिये कि उन्होंने सोचा कि इस प्रकार के गल्पों

की रचना मैंने क्यों की ? और इसलिये उन्होंने परमपुरुष से क्षमा प्रार्थना भी की थी।

"रूपं रूपविजितस्य भवतो यद्ध्यानेन कल्पितम् ।
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताऽखिलगुरो दूरीकृता यन्मया ।।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत् तीर्थ यात्रादिना ।
क्षन्तव्यं जगदीशो तद्विकलता दोषत्रयं मत्कृतम् ।।"

Ru'pam' ru'pavivarjjitasya bhavato yaddhya nena kalpitam' Stutya'nirvacaniiyata''khilaguro du'riikrta' yanmaya'. Vya'pitvam' ca nira'krtam'bhagavato yat tiirthayatra dina'. Ks'antavyam jagdiisho tadvikalta' dosa'tryam' matkrtam.".

हे परमपुरुष, तुम्हारा कोई रूप नहीं है, तुम अरूप हो, तब भी मैंने नाना देवी देवताओं का किसी का दस

हाथ, किसी की चार भुजा-ऐसा वैसा नाना प्रकार का वर्णन किया है। मेरा एक हो उद्देश्य था- लोक शिक्षा देना। किन्तु ऐसा करने में- हे अरूप ! तुमको मैंने रूप के वन्धन में आवद्ध करने की चेष्टा की है। यह मेरा प्रथम अपराध हो गया है। द्वितीय अपराध हुआ हं- तुम गुणातीत हो, सब गुण तुम्हारे अधीन हैं। इसलिये तुमको गुण से कैसे बाँधा जा सकता है ? अथच तुम्हारे नाना गुणों का वर्णन कर, स्तुति-गाथा प्रस्तुत कर दी हैं। इससे तुमको ही छोटा कर दिया गया है। और तीसरा अपराध हुआ है-कि तुम सर्वव्यापी हो, तब भी मैने कहा है- अमुक तीर्थ में भगवान ने यह काम किया था, अमुक तीर्थ में उन्होंने वह कार्य किया था। यह कह कर तुमको विशेष विशेष स्थान में बद्ध करने की. बाँध कर रखने की चेष्टा की है। यह भी एक अन्याय हुआ है। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड ही तो तीर्थ है। तुम सभी

जगहों में रहते हो। तथापि मैंने विशेष विशेष जगहों में तुमको सीमित करने की चेष्टा कर, इस तृतीय अपराध को मैंने किया है। इसलिये तुम मुझे क्षमा करो। मेरी इस चित्त विकलता के फलस्वरूप, मानस वैकल्य के फल से तथा मन की दुर्बलता के फलस्वरूप मैंने जो इन तीन प्रकार की भूलें की हैं- इन तीनों भूलों के लिये, इन तीन दोषों के लिये, मुझे क्षमा करो। यही है पुराण। पुराण हुआ घटना सत्य नहीं है, किन्तु उसमें शिक्षागत मूल्य बहुत अधिक है। रामायण भी वैसे ही एक पुराण है। सत्य घटना नहीं है, किन्तु रामायण का शिक्षागत मूल्य है। बाकी दो में एक है इतिकथा, और एक है इतिहास । इतिकथा है घटना का यथार्थ पञ्जीकरण । जो जैसी घटना हुई है, ठीक वैसे ही उसे लिपिबद्ध कर देना तथा लोगों की अवगति के लिये उसे प्रचारित करना, यह है इतिकथा । इतिकथा को संस्कृत भाषा में कही जाती है,

पुराकथा । इतिवृत्त या पुरावृत्त भी कहा जाता है और अंगरेजी में उसे कहते हैं History.

अब इतिहास, इतिहास, इतिकथा के वे सामान्य भाग हैं जिनको पढ़ने से मनुष्य का कल्याण होता है, अर्थात् जिसका educative value है, शिक्षागत मूल्य है। सम्पूर्ण इतिकथा पढ़ने से, सम्पूर्ण History पढ़ने से यदि उससे मनुष्य का विशेष लाभनहीं भी हो, किन्तु जो भाग पढ़ने से या जानने से मनुष्य को लाभ होता है, केवल उतने हो अंश का नाम हुआ इतिहास । इतिहास का कोई अंग्रजी प्रति शब्द नहीं है। भूल से History of India को भारतवर्ष का इतिहास कहते हैं। यह भूल है। कहना उचित होगा - भारतवर्ष की इतिकथा। अतः चौथा हुआ इतिहास जिसका educative value है, शिक्षागत मूल्य है।

इतिहास के सम्बन्ध में कहा गया है-

धर्मार्थ काममोक्षार्थं नीतिवाक्य समन्वितम् ।
पुरावृत्त कथायुक्तमितिहासः प्रचक्षते ।।

Dharma'rtha ka'mamoks'a'rtham' Niitiva'kya Samanvitam. Pura'vrtta Katha yuktamitiha'sah Pracaks'ate.

जिससे मनुष्य के धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-इन चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति होती है, जिसमें नीतिकथा रहती है- इस प्रकार की जो इतिकथा है, उसे इतिहास कहते है। जैसे 'महाभारत' है एक इतिहास । स्कूल-कॉलेज में जो पढ़ाई होती है, वह मुख्यतः इतिकथा अर्थात् History है। अतः

यह जो इतिहास है, यह इतिहास पढ़कर मनुष्य क्या पाता है ? धर्मार्थ काम मोक्षाय अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- इना चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति होती है। उसके साथ ही नीति की बातें भी सीखता है।

चतुर्वर्ग क्या है ? काम का अर्थ है जागतिक प्रयोजनों की पूत्ति अर्थात् fulfilmont of physical neccssities, अन्न चाहिये, वस्त्र चाहिये, जीने के लायक जीवन चाहिये- चिकित्सा चाहिये, निवास चाहिये। ये जो जागतिक प्रयोजन की वस्तुए हैं, इन सब की पूत्ति जिसके द्वारा होती है - वह है काम. यह है चतुर्वर्ग का प्रथम वर्ग है। यह भी किससे प्राप्त करते हैं? पाते हैं इतिहास से। ये जो जागतिक प्रयोजन की वस्तुएँ हैं, वे चतुर्वर्ग का प्रथमवर्ग है। इन जागतिक प्रयोजनों की पूत्ति किसके द्वारा होगी? वह भी होगा दर्शन के द्वारा। वह

भी इतिहास के द्‌वारा ही होगा। और इस प्रयोजन की पूति के लिये, एक दिन मैं अवस्था के चाप में पड़कर "प्राउट" दर्शन तैयार करने को हुआ हूँ; क्योंकि जो मनुष्य भोजन प्राप्त नहीं कर पाता है, पहले उसे मैं अन्न दूंगा, उसके बाद उसको अध्यात्म दर्शन सिखलाउँगा। उसके बाद उसे साधना में बैठाऊँगा। खिलानेके बाद उस इस वृक्ष से उस वृक्षपर नाचने, उछलने नहीं दूंगा, उसे साधना पर ही विठाऊँगा, किन्तु उसके पहले उसके पेट को भरने की व्यवस्था करनी होगी तो । शीतकाल में उसके लिये वस्त्र की व्यवस्था करनी होगी, उसके आवास की व्यवस्था करनी होगी। उसके अस्वस्थ होने पर चिकित्सा की व्यवस्था करनी होगी। ये सब हैं प्राथमिक प्रयोजन । इन प्रयोजनों की पूत्ति नहीं होने से कभी भी सामग्रिक रूप से मनुष्य जाति की उन्नति सम्भव नहीं है। इसलिये इस Physical

Practicality के लिये, इस वास्तव जगत की जो वास्तविकता, जिसके सम्बन्ध में शिव ने तन्त्र में कहा है -

'वर्त्तमानेषु वर्त्तन्ते' । वत्तमान की उपेक्षा कर कोई आगे जाने की चेष्टा नहीं करेगा-यही है शिव का सीधा निर्देश। हमलोगोंने भी इस निर्देश की आनन्दमार्ग में उपेक्षा नहीं की है। इसी के अनुसार 'प्राउट' दर्शन की सृष्टि की गई है, जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जो अस्वीकार करते हैं, वे आत्मप्रवञ्चना में रत हैं, वे काटाचारी हैं। यह हुआ चतुर्वर्ग का प्रथमवर्ग । द्वितीय वर्ग क्या है? बह है अर्थ । अर्थ क्या है? वह है अभावनिवृत्ति । यह अभावनिवृत्ति केवल Physical sphere में है, जागतिक स्तर में है, सो नही। यह देहगत और मनोगत भी है (Physico-Psychic)। जिसके द्वारा इन

सभी अभावों की निवृत्ति होती है, उसे कहते हैं- 'अर्थ' और जिसके द्वारा अभाव की स्थायी निवृत्ति होती है, उसको कहते हैं- परमार्थ । अयं परमार्थ - एक है निवृत्ति और दूसरा है आत्यान्तिकी निवृत्ति । अर्थ वह है, जिसके द्वारा शारीरिक-मानसिक प्रयोजन की पूत्ति होती है (Fulfilment of Physico-Psychic necessities are effected) वह है द्वितीयवर्ग । यहाँ अर्थ का माने रुपया-पैसा नहीं है। परन्तु रुपया-पैसा को भी अर्थ कहा जाता है; क्योंकि रुपया-पैसा के द्वारा सामयिकभाव से अभाव की निवृत्ति होती है। इसलिये रुपये-पैसे को संस्कृत में अर्थ कहते हैं। फिर, किसी शब्द का माने कोई नहीं जानता है, जैसे कदली माने क्या ? जान नहीं पाये। इसलिये मन में एक अभाव हो गमा। 'कदली' माने क्या, जानता नहीं हूँ। एक मानसिक अभाव तैयार होता है। उसके बाद जब मनुष्य जान गया कि कदली माने रम्भा, तब अभाव दूर

गया। तब इस meaning को भी, इसलिये संस्कृत में 'अर्थ' कहते हैं। अर्थात् जिसके पाने पर मन का अभाव दूर हो गया। इसलिये अर्थ माने रुपया भी, अर्थ माने, 'माने' भो और 'अर्थ' का असल माने है, जिसके द्वारा अभाव की निवृत्ति होती है। यह हुआ द्वितीयवर्ग ।

तृतीय है-धर्म । धर्म का माने है- जिसके द्वारा मानसिक और आध्यात्मिक स्तर के प्रयोजन मिटता है। Psycho-spiritual म.ने केवल जागतिक अभाव नहीं- उससे ऊचंतर अभाव है, सूक्ष्मतर अभाव है। जिसे रुपया-पैसा घर-द्वार किसी प्रकार का अभाव नहीं, वह भी सन्यास लेने के लिये घर छोड़ कर चल पड़ता है। क्यों निकल पड़ता है? क्यों राजा का लड़का सन्यास लेता है?

किस अभाव के कारण महाप्रभू चैतण्य देव सन्यास लेने के लिये निकल पड़े थे ? किस कारण से बुद्‍ध घर छोड़ कर निकल पड़े थे। उनलोगों को जागतिक कोई अभाव तो था नहीं। अर्थात् काम और अर्थ का अभाव तो था ही नहीं। क्यों बाहर निकले ? मन के किसी कोने में कोई अभाव छिपा हुआ था। सूक्ष्मतर जगत् में आने पर ही, यह समझा जा सकता है कि इस जगत् का तो कुछ भी जानता नहीं हूँ। उस जगत में प्रवेश किया है, किन्तु उस जगत् को जान नहीं पाता है, समझ नहीं पाता है, यही है धर्मीय अभाव या धर्मीय प्रयोजन। यही है तृतीयवर्ग । धर्म है साइको स्पिरिचुअल (Psycho-spiritual) और जिसके द्‍वारा मनुष्य के इस साइको-स्पिरिचुअल अर्थात् मानसोध्यात्मिक प्रयोजन की पूत्ति होती है, वही है धर्म। यह हुआ तृतीयवर्ग ।

अन्तिम वर्ग है मीक्ष। मोक्ष है- मनुष्य की जब पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। वह पूर्ण अभिव्यक्ति उसके लिये भारस्वरूप हो जाता है। जिससे इस अभिव्यक्ति का सूत्रपात होता है। उन्ही को तब उनकी वस्तु लौटा दें, यह भावना होती है।

"तव द्रव्यं गोविन्द तुम्यमेव समर्पये ।
निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिः परमेश्वरः ।।

"Tava dravyam Govinda Tubhyameva samarpaye.
Nivedaya'mi Ca'tma'nam' Tvam gatih
Parmeshvarah."

यही है अन्तिम स्तर । इसको मोक्ष कहते हैं जिस पुस्तक की घट्नावली पढ़कर या जानकर इस चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति का पथ सुगम होता है, वही है इतिहास । सुतरां, स्कूल-कॉलेज में इतिहास की पढ़ाई नहीं होती है। रामायण असल में एक पुराण है, और उसके किस्से सब शिक्षामूलक हैं।

जो भी हो, असल विषय पर लौट आयें। विश्वामित्र राम-लक्ष्मण को ले जा रहे थे। जिस कारण से रामायण पुराण है, इसलिये उसकी वास्तविक सत्यता का अनुसन्धान पाने की चेष्टा करना वृथा है, वह शिक्षामूलक है, किन्तु सत्य नहीं है। उसके बाद नाव से जाते जाते दूसरे पार में मिथिला में जाकर देखा गया कि श्रीराम के चरण-स्पर्श से नौका सोने का होगया। तब उस नौके का जो नाविक था, जो कर्णधार धा, उसने

देखा, "बाप रे बाप ! यह क्या हुआ ! तब तो यह - साधारण मनुध्य नहीं है।" तुरत दौड़कर अपने घर में जाकर अपनी स्त्री को उसने इस अद्भुत घटना को बताया। तब उसकी स्त्री घर से जितनी काठ को वस्तुए थीं, चकलाबेलना इत्यादि जो कुछ था, लेकर आयी और दौड़ते दौड़ते जाकर रामके चरण-स्पर्श कराकर उनको सोने का बना लिया। अब घर में काठ की कई वस्तुए रहती हैं। इतनी अधिक वस्तुएँ लाना और सोना का बना कर ले जाना, और सोना का हो जाने से भारी भी हो गया, बहुत अधिक । अबतो, नाविक की स्त्री की पीठ में दर्द होने लगा। हाथ, पीठ, शरीर, में दर्द होने लगा, बड़े जोर का दर्द होने लगा। अब ढो नहीं पा रही है। फिर भी, मोह खतम नहीं होता है। और सोना चाहिये- और सोना चाहिये। अर्थात् अपने को और अच्छी तरह जागतिक बन्धन में बद्धकर रखना चाहता है। मनुष्य

की यही दशा होती है। पीठ में दर्द हो रहा रहा है, तब भी छोड़ना नहीं चाहता है। जैसा कि पेटू आदमी की, निमन्त्रण वाले घर में होती है, भोजवाले घर में जाकर खाते खाते ऐसी अवस्था होती है, अब और खा नहीं पा रहा है। कष्ट हो रहा है, तब भी और दो रसगुल्ले खायेगा। दूसरे के पैसे से मिले तो टिक्वर आयडिन खा लेगा। अर्थात् नाविक की स्त्री की भी वही दशा हुई। ढो नहीं पा रही है, तब भी छोड़ नहीं पा रही है। इसीलिये रवीन्द्रनाथ ने कहा था-

"जड़ाये आछे बाधा, छाड़ाते जेते चाइ,
छाड़ाते गेले व्यथा बाजे ।
मुक्ति चाहिबारे तोमार काछे जाइ,
चाहिते गेले मरि लाजे ।।

मनुष्य की भी वही अवस्था है। तब नाविक ने अपनी स्त्री से कहा- "देखो, तुम बड़ी मूर्ख है। तुम कितना भार ढोयेगी ? बोझा ढोना तुम्हारा खतम नहीं होगा । तुम बोझा ढोते ढोते मर भी जायेगी, तब भी तुम्हारे सोने के लोभ का अन्त नही होगा। लोभ की संतृप्ति नही होगी। तुम मूर्ख है"। तब नाविक की स्त्री ने कहा, "हो सकता है मैं मूर्ख हूँ, तो क्या करू बताओ न" नाविक ने कहा- जिस चरण में इतना गुण है। जिसके स्पर्श से सब सोना बना जा रहा है, उन्ही दोनों चरणों को अपने घर ले जा, तब बोझा ढोने की नौवत नहीं आयेगी।" तब नाविक की स्त्री ने राम के पास जाकर कहा, "तुमको चलना ही होगा।" अब जाने के लिये राम राजी नहीं होते। तब दबाव में पड़कर राम गये और जाकर सामान को बैठे । तब क्या हुआ ? नाविक

की स्त्री यह भूल गई कि घर के सब सोना बनाना है। तब वह उसी दो चरणों को लेकर व्यस्त हो गई।

माने, असल वस्तु पा गई हूँ और सोना बनाकर क्या लाभ ? जब इच्छा होगी,. बनालूँगी। अभी तो असल वस्तु पा गई हूँ। तब केवट की स्त्री बोली, "राम, तुम जो आये थे, उसके प्रमाण स्वरूप मुझे कुछ दे जाओ।" तब रामने उसे चार सुस्वादु फल दिया। केवट की स्त्री ने पूछा- "ये फल क्या हैं? कौन देशी फल,. किसका फल है। इसका नाम क्या है ?" तब लक्ष्मण ठाकुरने कहा- इन चार फलों का नाम है-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- ये चार वर्ग हैं। यह चरण पा जाने से और चतुर्वर्ग की खोज नहीं करनी पड़ती है। स्वयं आप से आप चला आता है। उनके लिये परेशान होने की जरूरत नहीं पड़ती। जो भक्त हैं, उन्हें इन सब के लिये चिन्ता

करनी नहीं पड़ती है, उसे चतुवर्ग के लिये चिन्ता करनी नहीं पड़ती है। उसे चिन्ता करने की कोई प्रयोजन ही नहीं होता। और जिससे चिन्ता न हो । इसीलिये जागतिक स्तर में जो थोड़ी असङ्गति या त्रुटि थी, उसे पूर्ण करने के लिये मैंने 'प्राउट' सिद्धान्त तैयार कर दिया है। बाकी के लिये अतीत में भी प्रयोजन नहीं था, आज भी नहीं हैं, भविष्य में भी नहीं रहेगा। फिर भी जागतिक कुछ असंगति दीख पड़ती थी, इसलिये 'प्राउट' तैयार कर, उस वस्तु की मैंने सम्पूर्ण पूत्ति कर दी है।

तब सबों ने कहा- "लक्ष्मण ठाकुर, तुम्हारे बड़े भाई ने तो चार फल दिया, तुम भी कुछ दो।" तब लक्ष्मण ठाकुर ने कहा- "मैं तो गरीब आदमी हूँ, मैं क्या दे सकता हूँ। और मेरे पास एक ही फल है। वह तुम ले लो। तब सबों ने पूछा- "उस फल का नाम क्या है ?

सूचीपत्र

उस फल का नाम क्या है ? तब लक्ष्मण बोले- इस फल को नहीं पाने से वे चार फल नहीं मिलेंगे ।

तब सबों ने पूछा, "लक्ष्मण ठाकुर, जल्दी से फल का नाम बोलो; क्यों कि उन चार फलों का गुण इस फल में है, यह पाने ही से तो वह चार फल पायेंगे। लक्ष्मण ठाकुर बोले- "मैं तो गरीब मनुष्य हू । इस फल का नाम है भक्ति ।

कलिकाता १९-१२-७८

आध्यात्मिक, मानसिक तथा जागतिक भूमि

सूचीपत्र

मनुष्य का जीवन तीन स्तर में विभक्त है। तीनों स्तरों से मनुष्य कार्य करता रहता है। एक है आध्यात्मिक भूमि, एक है मानसिक भूमि और एक है स्थूल जागतिक भूमि । आज हो एक आदमी से बात हो रही थी, कि आध्यात्मिक भूमि में जो मनुष्य का दुख है, वह मनुष्य दूर करता है, व्यक्तिगत प्रयास से। तत्सह "महत्कृप-यैव भगवत् कृपा लेशाद्वा"। मनुष्य को स्वयं चेष्टा करते जाना होगा। मनुष्य चेष्टा करेगा। और उसके साथ महान पुरुष की कृपा आशीर्वाद पाये, और उसके साथ परमपुरुष की सामान्य थोड़ी भी कृपा पा जाये, बहुत की आवश्यकता नहीं है, थोड़ी से ही काम चल जायेगा। यह है आध्यात्मिक भूमि की बात । इस सम्बन्ध में किसी मनुष्य को चिन्ता करने की कोई

आवश्यकता नहीं है। कोई चिन्ता करने की जरूरत नहीं है; क्योंकि परमपुरुष का अस्तित्व हो, परमपुरुष जो हैं, उनका, यहो रहना तो जीव के कल्याण के लिये है। जीव का यदि कल्याण नहीं होना रहता, तो तव परमपुरुष निर्गुण बने रहते। सगुण भी नहीं बनते, तारकब्रह्म भी नहीं होते। इसका अर्थ है उनका उद्‌देश्य है जन-सेवा, मनुष्य का कल्याण करना । उसलिये वे कहते हैं-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतोम । धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

Paritra'n'a'ya sa'dhu'nam' vina'sha ya ca dus'krta'm. Dharma sam'stha'pana'rtha'ya sambhava mi yuge yuge.

परमपुरुष का बारबार पृथिवी पर आने की आवश्यकता ही क्या है? लोक-कल्याण के लिये ही तो वे आते हैं। लोक कल्याण कहने से यहाँ मतलब है-मुख्यतः आध्यात्म भूमि से, कि गौणतः मानसिक और स्थूल जगत से भी। क्योंकि वे मनुष्य के कल्याण स्वरूप हैं। समस्त जीव उनकी सन्तान है। मनुष्य का -कल्याण तो वे करेंगे केवल आध्यात्म भूमि में, किन्तु मानसिक भूमि में और स्थूल जगत में नहीं करेंगे, ऐसा तो हो नहीं सकता। सर्व क्षेत्र में करना ही होगा। तो अध्यात्म भूमि में कहा गया है- "महत्कृपयैव भगवत् कृपालेश द्वा"- मनुष्य व्यष्टिगत चेष्टा से कितना कर सकता है? अघटन घटन पटीयसी माया; उस दुर्दान्त प्रतापशालिनी के विरुद्ध व्यष्टिगत प्रचेष्टा से, मनुष्य कितना क्या कर सकता है ? सुतरां, इस क्षेत्र में स्वीकार करना ही पड़ता है, "महत्कृपयैव भगवत् कृपा

लेशाद्वा ।" सहत माने महान व्यष्टि की कुरा चाहिये अयवा चाहिये परमपुरुष की एक विन्दु कृपा - लेशमात्रकृपा, अधिक कृपा नहीं और उससे ही काम चल जायेगा, चला है, चल रहा है, चलेगा ।

और मानसिक भूमि में ? मानसिक भूमि में क्या होता है- मनुष्य जैसा कर्म करता है, कर्म का फलभोग, प्रारब्द्ध फलभोग भी वैसा ही मानसिक भूमि में मुख्यतः होता है और उस मानसिक भूमि में भी वह 'महत्कृपयैव भगवत कृपालेशाद्वा- यदि कृपा पा जाये, उससे ही कल्याण हो जायेगा। दुःख-कष्ट प्रारब्द्ध अनुसार आयेगा ही। क्लेश भोग वह करेगा, किन्तु उस क्लेश को, वह उस समय क्लेश नहीं समझेगा

अर्थात् वह मानसिक क्लेश भी दूर हो जायेगा। क्योंकि जहाँ कष्ट हो रहा है, परन्तु कष्ट को कष्ट नहीं समझा जा रहा है, तब क्या वह कष्ट हुआ ? इसलिये वह मानसिक भूमि में भी, वह आनन्द ही रह जायेगा। कष्ट यदि कष्ट ही न हो तब फिर कष्ट होता है क्या ? वैसा कष्ट यदि होता है तो हो न, उससे क्या आता जाता है। हाँ, यह तो हुआ। अब, इस स्थल जागतिक भूमि में क्या बात होती है ? जागतिक भूमि में मनुष्य को अन्न, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा, वासस्थान, इन सवो का प्रयोजन रहता है। तब परमपुरुष क्या करते है- इस जगत् में मनुष्य के लिये, सम्पत्तियाँ बिखेर दी है। बिखेरो हुई हैं, अजस्र सम्पत्तियां। मनुष्य को उन्होंने बुद्धि भी दी है कि वह इस तरह से सब मिलजुल कर बचे रहे, खाजो, दो, बऔर बचे रहो । मानसिक शान्ति के लिये साधना करो। मानसिक दुःख-क्लेश दूर हो

जायेगा। मेरी कृपा है। आध्यात्मिक कष्ट दूर करने के लिये ही कृपा दी गई है, इसलिये वे कृपा तो करेंगे ही। इसलिये वे कहते हैं- "सम्भवामि युगे युगे ।" सुतरां, भाववाद कुछ नहीं है। अब, समस्या केवल स्थूल जागतिक क्षेत्र में रह जाती है। अब, जागतिक क्षेत्र में इसके पहले भो, शिव का समय कहो, या कृष्ण का समय कहो, बारबार मनुष्य को कहा गया है कि मिलजुल कर रहो, खाओ- "देवा भागं यथा पूर्व संजाताना उपासते ।" किन्तु मनुष्य ने वैसा किया नहीं। किया नहीं, इस कारण से, जार्गातक क्षेत्र में, दु.ख भोग करता है, और करता जा रहा है। अब इस जागतिक क्षेत्र में दुख भोग दूर करने के लिये - एक Common sense एक साधारण बुद्धि कार्य करती है कि - जगत को जो कुछ सम्पत्ति है, वह तो सबके लिये है।

जिससे सब खाकर जी सके, इसीलिये वे हैं। ग्रास निगल जायेगा, यह तो उचित नहीं है। सम्मत रूप से, जगत की सभी सम्पत्तियों को अपने एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का इसलिये मनुष्य जिससे एक विधि बीच मिलजुलकर, भागकर काम में लगाये, उसके लिये एक व्यवस्था की आवश्यकता थी। इसके पहले किसी महान पुरुष ने नहीं की, अथवा तारकब्रह्म ने भी नहीं की। यह नहीं करने के कारण जो समाज जीवन में अनुपपत्ति हो गई थी। उस अनुपपत्ति के कारण मनुष्य को कितना दुख-कष्ट भोग करना पड़ता था। यह भी तो बन्द करना होगा। यह, क्यों चलेगा ? मनुष्य जब बुद्धि-प्रधान जीव है तब उसमें इस प्रकार एक बड़ी त्रुटि दिन-दिन, वर्षों-वर्ष, शताब्दियों-शताब्दि तक क्यों चलता रहेगा ? यह चलना तो उचित नहीं है। सब से बड़े मजे की बात है - कि जागतिक क्षेत्र में यह जो एक अनुपपत्ति और उसके

फलस्वरूप यह जो सृष्ट भिन्नताबोध (disparity), ये कितने अनर्थ के मूल बनकर खड़े हैं। इन अनर्थों के कारण मानसिक भूमि की शान्ति भी बारबार विघ्नित होती है। जिससे यह न हो- जिससे मनुष्य अपने महत्तर लक्ष्य को दृष्टि के सामने रखकर, जागतिक दुःख-क्लेशों को भी दूर करने की चेष्टा कर, इसलिये 'प्राउट' दर्शन की सृष्टि हुई है। प्राउट (Prout) दर्शन की सृष्टि को छोड़कर कोई अन्य पथ नहीं था। वह यदि नहीं किया जाता तो हो सकता था, शताब्दियों तक मनुष्य के दुःख कष्ट-क्लेश चलता रहता। सुविधावादी नीचाशय व्यष्टि लोग सहज सरल मनुष्यों की बौद्धिक सरलता अथवा बौद्धिक अभाव का सुयोग लेकर उनका शोषण करते। यह शोषण विशेष कर चला आ रहा था तीन प्रकार से- एक निपीड़न (oppression) दूसरा दमन (suppression), और तीसरा शोषण (Exploitation) से। मैंने repression

नहीं बताया; क्योंकि वह exploitation के साथ अङ्गाङ्गी रूप से जड़ित है। इस समय पृथ्वी के सभी मनुष्य को, यह निपीड़न, दमन, तथा शोषण से बचाना ही होगा येन केन प्रकारेण । तब क्या होगा ? तब इस स्थूल जगत में मनुष्य का दुःख दूर होगा। तब मानसिक जगत में जो सन्तुलन (adjustment) नहीं है-उसे दूर करना होगा। आध्यात्मिक जगत में उसका कोई अभाव नहीं था, नहीं है, नहीं रहेगा। इस विषय में मनुष्य निश्चिन्त है। केवल मानसिक जगत में उसे शक्ति अर्जन के द्‌वारा क्या करना होगा ? अपने प्रारब्धगत कारण से क्लेश भोग हो रहा है, शक्ति अर्जन कर जिससे वह क्लेश का अनुभव न करे, उसको व्यवस्था करनो होगी। अर्थात् प्राउट की प्रतिष्ठा के साथ साथ जागतिक स्तर (Physical sphere) और आध्यात्मिक स्तर में (Spiritual sphere) समस्या का समाधान होता जायेगा। और

मासिक स्तर में क्या होता है ? प्रारब्ध जनित जो क्लेश भोग है वह मन में ही आ जायेगा, यह तो ठीक है, किन्तु उससे जूझने के लिये मनुष्य को सामर्थ्य प्राप्त हो जायेगा । यह बात समझकर तुमलोग शीघ्र एक नये मानव समाज की संरचना कर लो। जो बाधा देंगे, दें। तुमलोग ध्यान में रखोगे कि जो समाज में पथिकृत (Pioneer) होते हैं, जो अग्रदूत (Vauguard) होते हैं- त्रे संख्या में अधिक नहीं होते है, किन्तु वे हो जयी होते हैं। और जिन्होंने एक समय विरोध किया था, या करते हैं, या करेंगे, परवर्तीकाल में बोलेंगे- हाँ, उन अग्रवत्तियों (Vauguard) ने जो जङ्गल काट कर पथ तैयार किया था, उसी पथ से आज हमलोग आराम से गाड़ी चलाकर आगे चले जा रहे हैं- अर्थात् बाद में स्वीकृति देंगे। वह समय पर नहीं देते हैं। यही नियम है। उसके साथ साथ यह भी तुमलोग जानकर रखोगे-

इस सहज सत्य के जङ्गल में बाघ, सिंह कम ही रहते है। सियार ही अधिक रहते हैं। जङ्गल में बाघ सिंहों का राजत्व रहता है, सियारों का नहीं। किन्तु सियार अपने स्वभाव के कारण 'हुक्का हुआ' की आवाज करेंगे ही। उससे बाघ सिंह घबड़ायेंगे नहीं ।

कलिकाता १२-१२-७८

समाप्त

****************X***************

घोषणा

सूचीपत्र

विश्व के सभी लोगों की आर्थिक, राजनीतिक और अन्य समस्याओं का न्यायोचित समाधान खोजने के उद्देश्य से प्रउत पढ़ें और दूसरों को भी पढ़ने दें।

मानव निर्मित समस्याओं के कारण, विश्व आज विनाश के कगार पर है। प्रउत की नीतियों को लागू करके ही समाज की सभी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

प्रउत की नीतियों को लागू किए बिना, इस विश्व को किसी भी तरह से विनाश से नहीं बचाया जा सकता।

आप नीचे दिए गए लिंक पर क्लिक करके ऐसी कई पुस्तकें पा सकते हैं।

www.anandamargaideas.com

यदि आपके कोई प्रश्न हों, तो आप पूछ सकते हैं।

आचार्य सत्यबोधानंद अवधूत

व्हाट्सएप नंबर 8972566147

अक्टुबर 2025